सहजानंद शास्त्रमाला

युक्त्यनुशासन प्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहजानन्द शास्त्रमाला

युक्त्यनुशासन प्रवचन

रचयिता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानंद" महाराज

प्रकाशक—
क्षेमचन्द जैन सर्राफ
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण
१०००
जून, १९७७

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्वाध्याय व प्रवचनसे पहले पठितव्य आत्म-रमण व मंगल-तंत्र

※ आत्म-रमण ※

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूं, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूं ।। टेक ।।

हूं ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूं सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ।
हूं सत्य सहज आनंदधाम, मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ।।१।।

हूं खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं ।
परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजा०, मैं दर्शन० ।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निजमें, निजकी निजमें दुविधा ही क्या ।
निज अनुभव रससे सहज-तृप्त, मैं सहजा० मैं दर्शन० ।।३।।

•••○•••

※ मंगल-तन्त्र ※

ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमें अन्यका प्रवेश नहीं अतः निर्भार हूं ।
मैं ज्ञानघन हूं, मेरे स्वरूपमें अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हूं ।
मैं सहज आनंदमय हूं, मेरे स्वरूपमें कष्ट नहीं, अतः स्वयं तृप्त हूं ।
ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्धं चिदस्मि ।

•••○•••

http://www.jainkosh.org

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ।।टेक ।। ॐ

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ।।१।। ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ।।२।। ॐ

परसम्बंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहुं गति दुखहारी ।।३।। ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ।।४।। ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ।।५।। ॐ

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरोंपर पढ़ी जाती है—

१– मन्दिर आदिमें आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमें ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमंगमें टेकका व किसी छंदका पाठ ।
४– सभाओंमें बोलकर या बुलवाकर मंगलाचरण करना ।
५– यात्रावंदनामें प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्म-कीर्तन

हूं स्वतंत्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।।टेक।।

मैं वह हूं, जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूं अभिराम ।।५।।

—:०:—

नोटः—भारतवर्षमें इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर पाठ किया जाता है—

१— शास्त्रसभाके पश्चात् या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा ।
२— जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरपर ।
३— पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समय छात्रों द्वारा ।
४— सूर्योदयसे १ घंटा पहिले परिवारमें एकत्रित परिजनों द्वारा ।
५— किसी भी विपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके लिये स्वरुच्यनुसार किसी अर्ध या चौथाई छन्दका पाठ ।
६— सभाओंमें निर्देशकों द्वारा बुलवानेके अनुसार सभ्यसमूह द्वारा ।

युक्त्यनुशासन प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धम् ।। १ ।।

(१) वर्द्धमान स्वामीका स्तवन करनेका संकल्प—

इसका नाम युक्त्यनुशासन है । है तो यह महावीर स्वामीका स्तवन, किन्तु इसमें वर्णन युक्तिपूर्वक है और इस ग्रंथके इसी छंदमें युक्त्यनुशासनका संकेत है । इस कारण इसकी प्रसिद्धि युक्त्यनुशासनके नामसे है । एक सूझके अनुसार यहाँ एक प्रश्न होता है कि समन्तभद्राचार्यने २४ तीर्थंकरोंकी स्तुति की, जिसका नाम है व्रहत्स्वयम्भू स्तोत्र । उस स्तवनके बाद फिर कौनसी कसर रह गयी तो उस विषयमें ऐसी झलक आती है कि मानो व्रहत्स्वयम्भू स्तोत्र तो भगवानको परीक्षाके लिए था कि मेरे द्वारा नमस्कार किए जाने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

योग्य कौन हो सकता है ? और जब भली-भाँति निर्णय कर लिया गया कि वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ही स्तवनके योग्य हैं तब उसके बाद यह एक स्तवन प्रारम्भ किया जा रहा है और इसमें महावीर जिनेन्द्रकी स्तुति है। सो २४ तीर्थंकरोंके स्मरणके बाद यह निर्णय किया गया कि स्तवन योग्य तो ये जिनेन्द्र हैं, तब यह स्तवन प्रारम्भ हुआ। इस स्तवनमें कहते हैं प्रथम छंदमें कि हे वीर जिनेन्द्र अब मैं इस लोकमें महान् कीर्तिसे बढ़े हुए तुम वर्द्धमान स्वामीको जो कि दोषोंके जालसे बन्धनसे विमुक्त है। दोष जाल जिसने नष्ट कर दिया है, ऐसा मैं तुमको आज स्तुतिका विषय बनाता हूं अर्थात् आपके स्तवनका मैं संकल्प करता हूं। इसमें जो 'अद्य' शब्द दिया है, अब मैं, आज मैं, इससे ही यह झलक होती है कि स्तवन तो पहले भी किया, क्योंकि जो भक्तिप्रधान पुरुष हैं वे करते ही हैं, लेकिन वह सब स्तवन एक स्याद्वाद और स्याद्वादसे बहिर्भूत शासन, उन दोनोंकी मानो मीमांसा रूप था और अब मैं, हे प्रभु ! आपका स्तवन करता हूं। आपको स्तवनका विषय बनाता हूं, विषयपनेको ले जाता हूं। इससे यह ध्वनित हुआ कि अब प्रभुका स्तवन समन्तभद्राचार्य एक विधानपूर्वक करते हैं।

(२) प्रभुकी वर्द्धमानता—

प्रभुका वर्द्धमान नाम क्यों ? वह इस विशेषणसे

जाना जाता है कि इस लोकमें बहुत बड़ी कीर्तिसे बढ़े हुए चले जा रहे थे और बड़े हुए थे। बड़े हुएको वर्द्धमान कहा करते हैं। सो यहां वीर जिनेन्द्रका सम्बोधन करके स्तवन किया गया है। वीर मायने क्या है ? वीर शब्दमें तीन अक्षर हैं—वि, ई और र। वि का अर्थ है विशिष्ट, बहुत अधिक। ई का अर्थ है लक्ष्मी, ज्ञानलक्ष्मी और र का अर्थ है देने वाला। एक धातु है र जिसके रूप चलता है राति। रातिका अर्थ है ददाति। जो विशिष्ट ज्ञानलक्ष्मीको दे उसे कहते हैं वीर। तो ऐसे हे वीर जिनेन्द्र ! आप वीर हो, क्योंकि जो आपके गुणों का स्तवन करता है, स्मरण करता है उसे विशिष्ट ज्ञानलक्ष्मी प्राप्त होती है। अब विशेषण दिया है—विशीर्ण-दोषाऽऽशय-पाश-बन्धनम्, याने दोष और दोषोंके आशय मायने पाप मिथ्यात्व। दोष और दोषाशय एक समान शब्द होनेसे एक का लोप हो जाता है। तो दोषसे अर्थ हुआ कषायोंका, राग-द्वेषका और दोषाशयसे मतलब हुआ मिथ्यात्वका याने समस्त मोहनीयकर्मके जालको, बन्धनको जिसने तोड़ दिया। बन्धन तो मोहनीय ही है। इस जीवको बांधने वाला और कोई नहीं। यह अमूर्त पदार्थ है। इसे कोई दूसरा बांध ही कैसे सकता है ? कभी किसीने आकाशको भी बांधा क्या ? तो जब आकाश न बँध सका तो कोई दूसरा मूर्त या अमूर्त कोई पदार्थ इस आत्माको कैसे बांधेगा ?

http://sahjanandvarnishastra.org/

(३) मोहका विकट बन्धन—

शंका—बन्धन तो दिख रहा है। यह शरीरमें है, शरीरसे बाहर नहीं बैठ सकता, नहीं जा सकता। शरीरका दृढ़ सम्बन्ध बन रहा। तो पकड़ रखा ना शरीरने जीवको? सो उत्तर यह है कि नहीं पकड़ रखा। इस जीवने ही शरीर को पकड़ रखा, यों कह दीजिए। जब दो का एक जगह बंधन है तो इस ओरसे ही क्यों देखा जा रहा है कि शरीरने जीवको जकड़ रखा? इस ओरसे क्यों नहीं देखते कि जीवने शरीरको जकड़ रखा है और कहो शुरूआत हुई है भावसे, यहींसे है तो अनादिसे सब, मगर जीव ही जब स्वयं राजी है शरीरमें रहनेके लिए, संकट आये, मरण जैसा अवसर आये तो यह नहीं मरना चाहता अर्थात् शरीरमें ही फंसना चाहता। तो जहाँ भीतरमें यह आशय पड़ा है कि यही मेरा सर्वस्व है, तो ऐसा आशय जब आत्माका बन गया तो आखिर आत्मा तो एक ईश्वर है, बड़ा समर्थ है, तो जब इतना आशय बन गया तो क्या इतनी बात न बनेगी कि बस जैसी इस जीवने इस शरीरमें एक आत्मीयताका संकल्प किया इस संकल्पके कारण बँध जावे। इसका नमूना है कि आज बँधा हुआ है। अब तक बँधा हुआ चला आ रहा है। कोई कहे कि मैं अभी सोचता हूं कि मैं शरीरसे न्यारा हूं, मैं शरीर नहीं, फिर तो शरीरसे अलग हो जाऊँगा ना? सो उसका यह सोचना, सोचना तो

होगा, मगर भीतरमें वह भेद त्वरित न बन पायगा, क्योंकि चिरकालके संस्कारसे शरीरमें जकड़ावका आशय बना रखा है। टूटेगा शरीर, अलग होगा शरीर, यह तो दो द्रव्योंके बंधको एक बात है।

(४) मोहके विकट बन्धनसे छूटनेका उपाय—

जैसे यह बन्धन टूटेगा उस तरह ही टूटेगा, बड़ी समाधि भावना चाहिए, बहुत भेदबुद्धि चाहिए, और जितना अनादिसे इसने खोटा पौरुष किया उसके एवजमें कुछ काल तो दृढ़ताका पौरुष चाहिए कि वह केवल अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवता रहे। खुद भी सोच सकते हैं कि हम अपनेमें ज्ञान-मात्र ही अनुभव कर रहे हैं क्या? कहाँ देखते? किन्हीं पदार्थोंका हमें ध्यान आता, किसीकी ही बात सोचते, कुछसे कुछ ही किया करते। तो यह जकड़ाव देहमें आत्मीयताके कारण बना हुआ है। तो इसके तोड़नेके लिए प्रथम तो अभिप्रायमें सुधार करना होगा। अभिप्रायका सुधार हो तो सम्यग्दर्शन कहलाता है। तो सम्यक्त्व हुआ तो मिथ्यात्व दूर हुआ और उसके बाद जो समाधिभाव बनता है उससे रागद्वेष दूर होते हैं।

(५) अनन्यचेतस्क होकर प्रभुकी भक्तिके संकल्पकी झांकी—

हे प्रभु जिन्होंने दोष और दोषाशयके जाल बंधन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

को नष्ट किया है ऐसे हे प्रभु ! अब मैं आपको स्तवनका विषय बनाता हूं, स्तवनके गोचरपनेको ले जाता हूं। इसमें कितना रहस्य बना है कि मैं आपको स्तवनके विषयभूत रूपसे ले जाता हूँ। कितनी प्रभुके प्रति अनन्यता है, अभेदरूपता है कि डरते-डरते ही कहा जा रहा। बड़े ऊँचे सभ्य बनावटी बातोंमें नहीं कहा जा रहा, किन्तु मानो जैसे इस भक्तके बहुत ही एक भीतरी भावमें हो, इस तरहके भावसे उठा हुआ यह शब्द है कि लो अब मैं आपको स्तवनके गोचर रूपसे ले जाता हूं। भाव यह हुआ कि ग्रन्थकारने वीर जिनेन्द्रके स्तवनकी इसमें प्रतिज्ञा की है।

याथात्म्यमुल्लंध्य गुणोदयाऽऽख्या
लोके स्तुतिर्भूरि गुणोदधेस्ते।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो
वक्तुं जिन ! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

(६) प्रभुस्तवनकी अशक्यता होनेपर भी प्रभुस्तवनके उद्यमके लिये एक चिन्तन—

स्तवन प्रारम्भ करनेसे पहले अब आचार्य कुछ थोड़ा चिन्तनमें चले हैं कि मैं किस तरहसे प्रभुका स्तवन करूँ, क्योंकि स्तवनका अर्थ यह है कि किसीकी वास्तविकता का भी उल्लंघन करके याने बढ़ा-चढ़ा करके गुणोंका वर्णन

http://www.jainkosh.org

करना इसे कहते हैं स्तुति, याने गुण तो थोड़े हों और बढ़ा-चढ़ा करके गुण बखाने जायें उसे कहते हैं स्तुति। लोकमें इस तरहके व्यवहारका नाम स्तुति रखा गया है। जैसे कि लोग कहा करते हैं कि वह तो उसकी स्तुति ही रचता रहता है। मानो उतना न चाहता था, उतनी कोई कला नहीं है उसमें, मगर उसकी वास्तविकतासे आगे बढ़-चढ़ करके बात करता है इसे लोकमें स्तुति कहते हैं। लेकिन हे प्रभु ! आप तो बहुत विशाल अनंत गुणोंके समुद्र हो। आपके तो थोड़े भी गुणोंका वर्णन करनेमें हम समर्थ नहीं, फिर हे जिनेन्द्रदेव किस प्रकार हम आपका स्तवन कर सकते हैं। कैसे स्तवन करूँ यह कुछ समझमें नहीं आता। किसी महान् कार्यका जब संकल्प किया जाता है तो थोड़ा यह सोचना होता है कि इसका प्रारम्भ कहाँसे करें, कैसे करें ? किस बातसे करें ? तो जिनेन्द्रदेवका यह बहुत बड़ा स्तवनका नाम है तो उसमें यह चिन्ता बनी कि कहाँसे कैसे स्तवन करूँ अथवा मैं कर ही नहीं सकता। करने योग्य ही नहीं हूं, फिर भी मैं स्तवनके लिए प्रवृत्त होता हूं सो उसका कारण क्या है ?

तथाऽपि वैय्यात्यमुपेत्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(७) अभीष्टप्रभुभक्तिके लिये स्तुतिकारका प्रबल उद्यम—तथाऽपि तौ भी अर्थात् यद्यपि हम छद्मस्थ जन आपके गुणोंका लवलेश भी स्तवन नहीं कर सकते तो इतने महान् अनन्त गुणोंके निधान प्रभु आपका स्तवन हम कैसे कर सकते हैं ? नहीं कर सकते हैं । तो भी कुछ ढीठपनेको प्राप्त होकर मैं भक्तिसे आपका स्तवन करने वाला बन रहा हूं । शब्दोंमें कितनी सभ्यता बसी हुई है कि कहा यह जा रहा है तो भी मैं आपका स्तवन करने वाला बन रहा हूं, ऐसा भी कह सकते थे कि तो भी मैं आपका स्तवन कर रहा हूं । स्तवन तो कर ही नहीं सकता मैं, पर स्तवन करने वाला हो रहा हूं । किस प्रकार कि शक्तिके अनुरूप वाक्यरचना करके ? सो ऐसा क्यों कर रहा हूं ? उसका कारण यह है कि सभी लोग जिसका जो इष्ट है, जिन्हें जो रुचता है, जिसका जो कार्य है । जो प्रमेय है सो अपनी शक्तिके माफिक क्या वे प्रयत्न नहीं करते ? करते ही हैं । तो इसी तरह जब हमारे इष्ट प्रमेय आप हैं, आपके सिवाय मेरा कोई इष्ट नहीं तब क्यों न मैं अपने प्रयासके लिए उत्साह करूँगा ? मैं इसी कारण स्तवनका उद्यम कर रहा हूं । इष्टप्रमेय हैं प्रभु । इन विशेषणों से यह बताया गया कि आचार्य समन्तभद्रको एक प्रभुस्मरण इष्ट था, आत्मस्मरण इष्ट था ।

(८) सांसारिक विषयोंमें लिप्त न होनेपर वीतरागस्थान

की प्राप्ति—जिन्होंने यह पहिचान लिया कि इस जगतमें मेरा कुछ नहीं है । सब बाहरी बातें हैं । अब भी झूठा, पहले भी झूठा था, आगे भी झूठा रहेगा । यहांके परमाणुमात्रमें भी मैं मिल नहीं सकता । वस्तुका स्वरूप ही ऐसा है । सत्त्व इसी ढंगसे ही हुआ करता । तो जब मेरा जगतमें कहीं कुछ नहीं है, किसीसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है तब फिर मैं कैसे किसी अन्य बातको इष्ट कर सकता हूं ? और चूंकि मेरेको यही इष्ट है कि रागद्वेष मोह गंदगी विकार सब मिटकर मैं केवल ज्ञानज्योतिस्वरूप रह जाऊँ । जिसको यह इष्ट हो जाता है यों जो ऐसा हो गया उसके साथ मेरा घनिष्टपन बढ़ता है । तो प्रभु जिनेन्द्र आप वीतराग निर्दोष सर्वज्ञ हो और यह ही एक जीवकी अन्तिम मंजिल है जहाँ इसे फिर अनन्त आनन्द रहता है, वह जब मुझे इष्ट नहीं है तो फिर उस इष्टके स्तवनका, उस इष्टके साथ अपना सम्बन्ध जोड़नेका क्यों प्रयत्न करूँ ? सो प्रभु आप अनन्त गुणोंके निधान हैं तो भी मैं आपका स्तवन करनेके लिए प्रवृत्त हुआ हूं । भक्तामर स्तोत्रमें कहते हैं कि मैं आपकी भक्तिसे स्तवन करनेको उद्यत हुआ हूं सो जैसे हिरणी अपने बच्चेकी प्रीतिके कारण सामने आते हुए सिंहसे भी नहीं डरती अपने बच्चेके परिपालनके लिए तो ऐसे ही मैं प्रभुका स्तवन करने लायक नहीं हूं तो भी अपने परि-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

णामोंकी विशुद्धिके लिए, अपने आत्माकी रक्षाके लिए, पालनके लिए आपके स्तवनमें अपनी शक्तिके माफिक प्रवृत्त हो रहा हूं।

त्वं शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुला-व्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्म-पथस्य नेता
महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥

(६) स्तुतिकार द्वारा अतिसंक्षिप्त शब्दोंमें प्रभुका महान् स्तवन—

सो हे वीर प्रभु ! मैं आपके स्तवनके लिए भक्ति-वश प्रयत्नशील तो हुआ हूं, लेकिन कुछ कहा ही नहीं जा रहा है। जहाँ इतना विशाल गुणनिधान मेरी दृष्टिमें आ गया हो तो मैं समस्त गुणसमूहको एक साथ कैसे कह दूं ? भक्तिमें ऐसा अन्दर प्रयास होता है, पर ऐसा प्रयोगमें तो नहीं आ पाता। सो मैं ज्यादा कुछ कह ही नहीं सकता। सिर्फ इतना ही मैं कहनेमें समर्थ हूं कि हे प्रभु तुम शुद्धि और शक्तिके विकासकी उत्कृष्टताको प्राप्त हुए हो। शुद्धि मायने ज्ञानविकास, आत्मविकास। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आनन्द अनुभवनेका सामर्थ्य। तो इन दोनों बातोंकी चरम सीमाको आप प्राप्त हुए हो, जो चरम सीमा कैसी है ? अतुल है। तुलनासे रहित है और शक्तिरूप है। तो ऐसी उत्कृष्ट

http://www.jainkosh.org

अवस्थाको आपने प्राप्त किया। बस इतना ही कहनेमें मैं समर्थ हूं। इससे आगे और मैं क्या कह सकता हूं ? कैसा यह अभेद भक्तिका, अनुपम भक्तिका एक उदाहरण है कि दो शब्दोंमें प्रभुकी सारी महिमा जता दी, इससे बढ़कर और आत्माकी क्या महिमा हो कि जहाँ दोष तो एक भी नहीं और गुण परिपूर्ण प्रकट हैं और इतनेपर भी कहते हैं कि बस हम इतना ही कहनेमें समर्थ हैं। इससे ज्यादा हमसे कुछ कहते नहीं बनता। सो हे ब्रह्मपथके नेता, मोक्षमार्गके नायक ! आपने उस चरमसीमाको प्राप्त किया जहाँ निर्दोषताकी हद है और ज्ञान-विकासकी हद है। चाहे सीधे शब्दोंमें यह कहो कि हे प्रभो ! आपने निर्दोषताकी हदकी और गुणविकासकी हद कर दी अर्थात् अधिकसे अधिक पूर्ण तो आपका विकास हुआ और शुद्धिका भी परिपूर्ण विकास है याने जहाँ दोष रंच भी नहीं हैं। हे प्रभो ! इतना ही कहनेमें हम समर्थ हैं।

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्व-लक्ष्मी-
प्रभुत्व-शक्तेरपवाद-हेतुः ॥ ५ ॥

(१०) प्रभुके शासनकी महिमाका वर्णन—

इससे पूर्व श्लोकमें यह कहा गया था कि हे प्रभो, आप शुद्धि और शक्तिकी परमकाष्ठाको प्राप्त हैं। शुद्धि मायने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

निर्दोषता, पवित्रता। किसी भी कलंकका, दोषका न रहना यह बात आपमें सर्वोच्च है और शक्तिके मायने समस्त सतको जाननेकी शक्ति और अनन्त गुणोंको अनुभवनेकी शक्ति। इन दोनों ही बातोंमें आप उत्कृष्ट काष्ठाको प्राप्त हैं और इसी कारण आपकी जो वाणी है, आपकी दिव्यध्वनिसे चली आयी हुई जो जिनवाणी है, शासन है वह शासन मोक्षके मार्गमें लगाने वाला है और जब तक लोकमें रहेगा जीव आपके शासनको मानने वाला तब तक उसके लौकिक अभ्युदय भी चलता रहेगा, क्योंकि आपकी इस पवित्र वाणीके हृदयंगम करनेका फल है सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति। और फिर आगे बढ़ेगा तो सम्यग्ज्ञानका विकास और सम्यक्चारित्रका विकास। एक सम्यग्दर्शन ही प्राप्त हो गया जिसे वह पुरुष नरक और तिर्यंचगतिमें नहीं जाता और अगर कहीं जन्म लेना हो तो मनुष्यगतिमें भी जन्म नहीं लेता। देवगतिमें जन्म लेता है।

(११) देवगति भी मनुष्यगतिके समान है—

देवगति मनुष्यगतिसे कोई श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि देवगतिसे मुक्ति नहीं। देव भी इस मनुष्यभवको तरसते हैं, लेकिन सम्यग्दर्शनके होनेपर जो क्रियायें चलती हैं वे ऐसे ही पुण्यका बन्ध करती हैं। सम्यग्दर्शन नहीं करता बंध, किन्तु सम्यग्दर्शनके होनेपर जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति चलती है, भावनायें चलती हैं उनसे ऐसा विशिष्ट पुण्यबंध होता कि

उसको फिर लौकिक दृष्टिका अच्छा सुख रहना चाहिए, वह देवोंमें सम्भव है। तो मनुष्य सम्यग्दृष्टि हो तो देवमें ही पैदा होते हैं, देव सम्यग्दृष्टि हो तो मनुष्यमें ही पैदा होते हैं। कुछ अपवाद है कि मनुष्यने अगर पहले नरक या तिर्यंच आयुका बंध किया और पीछे हुआ क्षायक सम्यक्त्व तो वह नरक और तिर्यंचमें जायगा और अगर नरक जायगा तो पहले नरक तक और तिर्यंच होंगे तो भोगभूमिका तिर्यंच।

(१२) महापुरुषोंके गुणोंकी व्याख्या—

देखो बड़े पुरुषोंकी रीति होती है या तो कष्ट भोगा या बहुत उत्तम पदमें रहे। नीचा खोंचीकी बात महापुरुषोंके नहीं चलती। तो यों ही समझिये कि जैसे तीर्थंकर जितने भी सामान्य कल्याणक वाले तीर्थङ्कर हुए हैं वे या तो नरकसे आकर तीर्थङ्कर हुए या देवगतिसे आकर तीर्थङ्कर हुए। सम्यग्दृष्टि जीव इतने पवित्र आशयके हैं कि वे एकेन्द्रियमें नहीं पैदा होते। दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पशुओंमें भी और नपुंसकोंमें भी, सर्व स्त्रियोंमें भी इन पर्यायोंको धारण नहीं करते। सम्यग्दर्शनकी एक महिमा है। हाँ देवोंमें भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी इन देवोंमें उत्पन्न नहीं होता। ये सब सम्यग्दर्शन तो उत्पन्न कर सकते, स्त्री भी, नपुंसक भी, पुरुष भी, पक्षी भी और भवनत्रिकके खोटे देव भी सम्यक्त्व तो उत्पन्न कर लेते हैं, पर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सम्यक्त्वसहित मरण हो तो यहाँ उत्पत्ति नहीं होती। तो यह महिमा किसकी है ? यह भगवानके स्याद्वादशासनके अवधारणकी। स्त्रीके भी सम्यग्दर्शन हो तो उसका स्त्रीलिंग छिद जाता है। यहीं जो कहते हैं कि सीता जी के जीवने स्त्रीलिंग छेदा तो उसका अर्थ यह है कि जहाँ सम्यक्त्व है वहाँ ये सब दूर हो जाते हैं। तो सम्यग्दर्शनकी इतनी बड़ी महिमा हे प्रभु किसने प्राप्त करा दी ? आपके शासनके अनुरागने।

(१३) श्रीवर्द्धमानशासनके प्रसारके अवरोधके कारणकी जिज्ञासा—

हे प्रभो ! आपका इतना महान् उच्च शासन है कि मुक्तिका मार्ग बताया और लोकमें अभ्युदय कराया, पर एक शंका हो जाती है कि जब इतना पवित्र मार्ग है, तत्काल भी सुख देता है, भविष्यमें भी आनन्द देता है। और की तो बात क्या, सदाके लिए जन्म-मरणके संकट भी छूट जाते हैं, छोटा भी पाले, बड़ा भी पाले और जहाँ पक्षपात नहीं। एक वस्तुस्वरूपके आधारपर ही है जैनशासन, फिर क्या वजह है कि लोकमें जैनशासनके मानने वाले कितने ? और इसके खिलाफ रहने वाले कितने ? खिलाफ रहने वालोंकी संख्या बहुत है। यों समझ लीजिए कि आजके जितने मनुष्य हैं उनमें जैनियोंकी संख्या मुश्किलसे १, २ प्रतिशत बैठेगी। तो

http://www.jainkosh.org

क्या वजह है कि आपका शासन फैला नहीं, व्यापक नहीं। लोकोंके हृदयमें नहीं रहता, इसका क्या कारण है ? धर्म तो एक ऐसी निष्पक्ष चीज है कि सही मार्ग मिले तो कोई भी व्यक्ति इस सही मार्गको ही धारण करेगा, फिर वजह क्या है कि आपके शासनका एकाधिपत्य इस दुनियामें नहीं है। इस शंकाका उत्तर इस छंदमें दिया गया है।

(१४) वर्द्धमानशासनके प्रसारके अवरोधका कारण—

हे प्रभु ! तुम्हारे शासनका जो एक आधिपत्य नहीं है, एक अधिपतिपनारूप लक्ष्मीकी प्रभुताशक्तिके अपवादका कारण क्या है ? तो समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि भगवानका शासन जो सर्वत्र नहीं फैल रहा उसके कारण हैं तीन। तीनों कारण मिट जायें तो फैलनेमें देर न लगेगी, फिर यही पवित्र शासन ही सर्वत्र रहेगा। वे तीन कारण क्या हैं ? पहला कारण तो है कलिकाल, पंचमकाल, गिरावटकी ओर चलने वाले जीव। तो प्रथम दोष तो है कलिकाल। दूसरा दोष है, कारण है प्रभुसे शासनके न फैल सकनेका कि सुनने वालोंका कलुषित हृदय, और तीसरा कारण है कि बोलने वालोंको नयोंका ज्ञान नहीं। इन तीन बातोंके कारण हे प्रभु, आपके शासनका एक छत्र सामान्य न हो सका।

(१५) श्रीवर्द्धमानशासनप्रसारावरोधका प्रथम कारण कलिकाल—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कैसे हैं वे तीन दोष जो वर्द्धमानशासनके अवरोध के कारण हैं। तो कलिकालकी बात तो प्रायः सभी लोग कहा ही करते हैं और उसकी घटना सामने दिख रही है। लोग पतनकी ओर जा रहे हैं। कुछ थोड़ा समझमें नहीं आता है कि इस जगतका वैभव समागम कुछ भी इस जीवका साथी नहीं है। लोग देखा भी करते हैं कि जो मर गया सो कुछ नहीं ले जाता। इतनेपर भी जो इस बाह्य संगकी ओर व्यामोह है और उसके कारण भ्रष्टाचार, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहके पाप ये जो सब फैल रहे हैं सो ये सब यह ही घोषणा मानो कर रहे हैं कि सब कलिकालकी देन है।

(१६) कलिकालका एक उदाहरण—

अब इसके सम्बन्धमें एक घटना है जो गुरुजी सुनाते थे कि जैसे मानो कलिकाल एक दिन बाद लगेगा। उससे पहले सही समय था। तो पहले दिन एक पुरुषने अपना टूटा-फूटा मकान बेचा। खरीदने वालेने खरीद लिया और उसमें तुरन्त ही निर्माण कार्य शुरू कराया। नींव खुदवाया तो उसमें एक अशर्फियोंका हंडा मिला तो वह खरीदने वाला सोचता है कि इस हंडेकी अशर्फियोंमें हमें हाथ भी न लगाना चाहिए, क्योंकि ये मेरी नहीं है। मैंने तो केवल जमीन खरीदी है, सो हंडा लेकर वह बेचने वालेके पास गया कि भाई! यह तुम्हारी जमीनमें हंडा निकला है इसे आप रख लो। तो

उसने अपने पास रखनेमें इन्कार कर दिया। बोला—मैं कैसे रख लूं? मेरा होता तो मुझे पहले मिलता, यह तो तुम्हारे भाग्यका है, हमने जमीन बेचा, उसके अन्दर निकला है। तो दोनोंमें लड़ाईसी होने लगी। मैं नहीं रखता, मैं न रखूँगा, तुम्हें रखना होगा। ऐसी लड़ाई सुनकर शायद किसीके मुखमें पानी आ जाय कि अगर हम होते तो फैसला कर देते। खैर उनकी लड़ाई न मिटी तो राजाके पास न्याय कराने दोनों पहुंचे। अपनी कथा सुनायी। बेचने वाला कहता है कि मैंने तो जमीन-जमीन बेची और हमारा होता तो हमें मिलता। हमने तो इसे धरा भी नहीं, और खरीदने वाला कहता कि हमने तो सिर्फ जमीन ही लिया, उसके ही हम मालिक हैं, पर जमीनमें जो धन निकला वह मेरा नहीं। राजा उन्हें बहुत मनाये, पर माने नहीं, तो राजाने कहा—अच्छा, कल पेशी होगी। अब कलके मायने कलिकाल लगना अब तीनों ही अपने-अपने घरमें सो रहे थे तो बेचने वाला सोचता है कि मैं कितना मूर्ख निकला कि मिला हुआ धन मैं खुद अपने हाथों दूसरेको दे रहा था और बेचने वाला सोचता है कि मैं कितना मूर्ख निकला कि खुद लाया हमारे घर और हमने उसे लड़कर भगा दिया। और राजाके यह विचार आया कि वे दोनों बड़े मूर्ख हैं, सो ठीक है, वह धन न तो उसका, जो जमीनमें निकला सो राजाका। खैर आगे चलकर ऐसा ही फैसला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

होगा। सो बात यहाँ यह कही जा रही कि कलिकालका ऐसा प्रभाव है कि आचार-विचार गिरावटकी ओर प्रकृत्या लोगोंके जाते हैं। बड़े-बड़े स्कूल खोले जाते हैं एक सच्ची शिक्षा और आचार-विचार बनानेके लिए, मगर पापोंके करनेके लिए कोई स्कूल नहीं खुले। कहाँ शिक्षा लेवें कि इस तरह झूठ बोलो, इस तरह चोरी करो? लेकिन लोगोंमें पापके भाव प्रकृत्या आ जाते हैं। तो एक तो यह कलिकाल है, जिसमें लोगोंके भाव शिथिलताकी ओर, असंयमकी ओर चलते हैं, इस वजह से हे प्रभु आपके शासनका व्यापक संचार न हो सका। यह तो है पहला कारण।

(१७) श्रीवर्द्धमानशासनप्रसारावरोधका द्वितीय तृतीय कारण श्रोताओंका कलुषाशय तथा प्रवक्ताओंका वचनानय—

अब दूसरा कारण क्या कहा कि सुनने वालोंके आशय मलिन हैं। कैसा मलिन आशय कि वे मोह और मिथ्यात्वसे भरे हुए हैं और इस कारण चाहते यह हैं कि ऐसी ही बात सुनाई जाय या उस बातका ऐसा ही अर्थ लगाया जाय जैसा कि मुझे इष्ट है और हमारे स्वार्थमें कोई बाधा न आ सके। यह है कलुष आशयकी बात। इसके अतिरिक्त सुनने वाले अनेक लोग कुछ इसलिए आते हैं कि लोग समझें कि यह खास हैं। कुछ इसलिए भी आते हैं कि देखें तो सही कि ठीक बोलते या कैसा बोलते हैं? कोई इसलिए भी आते हैं कि कुछ बात मिले और चर्चा छिड़े तो झट शंका कर दें। भिन्न-भिन्न प्रकारके आशय होते हैं, पर आशय सुनने वालों का सिर्फ यह होना चाहिए कि मेरा कैसे उद्धार हो? कल्याण की भावनासे सुनना है, और कुछ भावना न होनी चाहिए, पर नहीं है ऐसा तो यही एक कारण है कि श्रोताओंका हृदय कलुषित है, इसलिए प्रभुके शासनकी महिमा न बढ़ सकी। तीसरा कारण है पढ़ने वालोंको, उपदेश करने वालोंको नयों का परिचय नहीं है, इस कारणसे प्रभुके शासनका व्यापक प्रचार न हो सका। सो खेदपूर्वक आचार्यदेव कह रहे हैं और ऐसा कहनेमें भी महिमा प्रभुके शासनकी ही बतायी जा रही है।

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं
नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम्॥ ६॥

(१८) प्रभुवीरशासनकी दयादमनिष्ठता—

वीरनाथ जिनेन्द्रके स्तवनमें समन्तभद्राचार्य भक्ति कर रहे हैं कि हे प्रभो! आपका सिद्धान्त दया, दम, त्याग और समाधिमें निष्ठ है। आपके सिद्धान्तमें इनका स्थान है। दया स्वदया और परदया। मुख्य तो स्वदया है, स्वदयाके होते संते परदया हो वह तो विधि है और स्वका हनन करते

Version 1

हुए परकी दया करे तो उसका नाम मोह है। प्रवचनसारमें मोहके चिन्ह बताये हैं तो यह बताया है कि जो प्रेक्षार है याने जिसमें प्रेम है, जिसको एक आत्मीयताकी दृष्टिसे देखते हैं लोग, ऐसा मनुष्य हो या तिर्यञ्च हो, गाय, भैंस, घोड़ा हो। जिसका जो कुछ है उनमें करुणाबुद्धिसे जो प्रवृत्ति होती है वह है मोहका चिन्ह। जैसे घरके बच्चे बीमार हों तो बड़ी दया आती, तड़फन होती है तो इसे दया न कहकर मोह बताया है, क्योंकि मूलमें यह मेरा है, ऐसा आशय लेकर कर रहा है, सो सब मोहकी चेष्टा है। अगर विशुद्ध करुणा होती तो दूसरे गैरोंपर क्यों न इतना भाव जगता? तो स्वदया होते हुए परदया हो तो उसकी महिमा है, पर स्वकी हत्या करते हुए परदया करे कोई तो उसकी अज्ञान चेष्टा है और मोहका काम है। स्वदया क्या चीज है? अपनेमें कषाय न जगें, अहंकार न जगे और यथार्थ ज्ञानका उपयोग रखे तो यह है स्वदया।

(१६) प्रभुके शासनका आदेश स्वदया—

हे प्रभु! आपका सिद्धांत स्वदयाका आदेश करता है। दयाका आदेश करता है उसीके साथ परदया भी आदेशमें है। और दम क्या चीज है? इन्द्रियका दमन। अहिंसा—दयाके मायने है अहिंसा, हिंसा न होना। जो अपनेमें खोटे भाव नहीं रखता, परजीवोंमें यह मेरे हैं, ये बिराने हैं, ये गैर के हैं। इस तरहका भेदभाव नहीं रखता, उसके अहिंसा वृत्ति

बनती है। सर्व पापोंमें मुख्य पाप मोह है, मिथ्यात्व है। मोह मिथ्यात्व रहते हुए धर्मके काम किए जा रहे हों तो लाभ तो धर्मके नामपर कुछ करे तो कुछ न कुछ है ही, लेकिन मोक्ष-मार्गका उसमें रंच लाभ नहीं और इसी कारण वह विशुद्ध दृष्टिसे वहाँ धर्मका काम नहीं है। धर्म वहाँ है जहाँ अहिंसा-वृत्ति है। तो हे वीर प्रभु! आपका मत अहिंसासे परिपूर्ण है और संयमसे निष्ठ है। संयमका उपदेश है, संयमकी प्रधानता है। कोई लोग ऐसा कह देते हैं कि सही ज्ञान करें, संयम अपने हो जायगा, सो बात तो ठीक है, सही ज्ञान करें और फिर उस ही ज्ञानको बनाये रखें याने ज्ञान ज्ञानस्वरूप अन्त-स्तत्त्वको जानता रहे ऐसी स्थिति बना ली जाय, बस यही तो संयम है, और ऐसी स्थिति जब बन पाती है तो ऐसी स्थिति बननेकी प्रतीक्षा करना और उस समय ऐसा कार्य करना, ऐसी चेष्टा करना कि उस अन्तस्तत्त्वके विकासकी पात्रता बनी रहे, बस यह हुआ व्यवहारधर्म। तो यह सब हे प्रभु आपके मतमें लोकहितकी बात इस प्रकार कही गयी है।

(२०) प्रभुवीरशासनकी त्यागसमाधिनिष्ठता—

त्याग क्या चीज? परिग्रह त्याग, विकल्पका त्याग। परिग्रह कुछ भी किसीका नहीं है और परिग्रहको किसीने पकड़ा भी नहीं है। परिग्रहका त्याग ही क्या करना? बात तो यहाँ हो रही है कि बाह्य परिग्रहके प्रति जो भीतरमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

लगाव, स्नेह, ममता होती है बस वह है परिग्रह। उसका त्याग हो, विकल्पका त्याग हो, सही ज्ञान बने, मेरा कहीं कुछ नहीं, मैं केवल ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हूं, तो यह हुआ परिग्रहके त्यागका विशुद्ध रूप। हे प्रभु आपके मतमें दया, दमन, त्याग और समाधिका उपदेश है। कोई पुरुष सोचे कि ज्ञान किए जावो, त्याग अपने आप हो जायगा तो ऐसा जो सोचता है वह मोक्षमार्गके प्रति रुचिया नहीं है।

(२१) प्रभुके शासनकी त्यागसमाधिनिष्ठताका कारण—

प्रभुके शासनकी त्यागसमाधिनिष्ठताका कारण यह है कि जैसे इस लोकमें देखा जाता है कि किसी मनुष्यको कुछ बात इष्ट है तो उसके लिए सारे प्रयत्न वह कर डालेगा, ऐसे ही जिस भव्य जीवको मोक्षमार्ग इष्ट है तो वह मोक्षमार्ग पाने के लिए कभी आलस्यभरा चिन्तन न करेगा। जल्दी काम हो। मोक्षमार्गका जल्दी काम बने, इस तरहकी भावना रखेगा। तो प्रभु आपका सिद्धान्त त्यागका आदेश करता और समाधिका आदेश करता, समाधि मायने उत्तम ध्यान। जहाँ ज्ञान ज्ञानस्वरूप निज अन्तस्तत्त्वका ज्ञान बनाये रखे, ऐसी प्रवृत्तिको कहते हैं समाधि। ये समाधिनिष्ठ हो गए। अब ऐसी समाधियाँ चल उठी हैं और लोग उसका नाम समाधि रखने लगे हैं कि एक-दो दिन तक पृथ्वीमें गड़े रहें और उसके बाद बाहर निकल आयें तो उसमें समाधि कर ली ऐसा आज-

http://www.jainkosh.org

कल प्रसिद्ध रूप बन गया है। इसमें कितनी ही तो जगह कुछ पोलकी बातें रखते हैं। जैसे कोई नली ऐसी लगा ली कि जो बहुत दूर तक चली जाय और उसे कहीं निकाल ले ऊपर तो उसके द्वारा श्वासकी बात बनाये रखे और कोई मानो कुछ साधना कर ले तो ऐसी साधना कर लेनेपर चूंकि उसकी बाह्य स्वार्थपर दृष्टि है, मेरी इसमें प्रतिष्ठा होगी, मुझे इसमें इनाम मिलेगा। तो ऐसे भावपूर्वक घटना बनती है वह और वहाँ फिर समाधिका फल जो शान्ति है वह नहीं मिल पाती। प्रभु आपका सिद्धान्त समाधिसे निष्ठ है।

(२२) प्रभुवीरशासनकी नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थता—

हे प्रभु! आपका सिद्धान्त नय और प्रमाणके द्वारा सही वस्तुतथ्यको स्पष्ट बनाने वाला है पदार्थकी परीक्षा के उपाय नय और प्रमाण हैं। प्रमाणसे जानते तो सभी लोग हैं, मगर प्रमाणका स्वरूप क्या, विश्लेषण क्या? इसको समझ बनाना है तो नयोंका ज्ञान चाहिए, क्योंकि प्रमाण बनता है ऐसी मुद्रामें कि जहाँ सब नय सब दृष्टियोंसे निर्णय हो कि इस दृष्टिसे ऐसा है। तो नयोंके द्वारा वस्तुका परिचय करके फिर उन समझे गए सभी धर्मोंका समुच्चयात्मक अविरोध सम्यक् जो एक ज्ञान है उससे प्रमाण कहलाता है। नय और प्रमाणके बड़े विवरणके द्वारा प्रभु आपके सिद्धान्तने जीवोंको ज्ञानप्रकाश दिया और आपका सिद्धान्त ऐसे प्रवादी

Version 1

जनोंके द्वारा उल्लंघन किए जाने योग्य नहीं है, बाधा देनेके योग्य नहीं है, निर्बाध है, क्योंकि वस्तुमें जो स्वरूप पाया जाता है उसके अनुरूप कथन है। जब कि अनेक दार्शनिकोंने अपनी बुद्धिसे कुछ सोचा, कुछ नियम बनाया और उस आधारपर वस्तुका स्वरूप बताया तो इसमें सहीपन न आ पायगा। वस्तु जैसा है वैसा ही ज्ञान बनाये यह है आचार्य संतोंके उपदेशकी विधि। ऐसा नहीं है जैसा अपना ज्ञान बनाया वैसा ही पदार्थमें कुछ बने। तो इसी कारण हे प्रभु! आपका सिद्धान्त समस्त अन्य प्रवादियोंसे बाधा योग्य नहीं है। आपने जो बात कही वह सर्वोपयोगी है, छोटा ज्ञान रखने वाला भी जैनसिद्धान्तको पाल सके और बड़े ऋषिजन भी उस सिद्धान्तको पाल सकें, ऐसी इस सिद्धान्तमें कला है। तो हे जिनेन्द्र! ऐसा आपका यह मत अद्वितीय है, अपूर्व है, जिसकी तुलनामें और कोई मत नहीं पाया जाता।

अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वं
तव स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम्।
अवृत्तिमत्त्वात्समवाय-वृत्तेः
संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः ॥७॥

(२३) अर्थतत्त्वकी अभेदभेदात्मकता—

हे प्रभु! आपके द्वारा बताया गया यह अर्थतत्त्व अभेदभेदात्मक हैं। जब कोई सत् है तो वह सदा रहेगा, यह

तथ्य तो पाया ही जाता है। और जब कोई सत् है तो उसकी प्रतिसमयमें अवस्थायें बनेंगी, यह भी तथ्य है। अवस्थायें, पर्यायें बने बिना सत् नहीं रह सकता और सत्ता रहे बिना सत् नहीं रह सकता। तो इस स्वरूपसे वह जाननेमें आता है कि अर्थतत्त्व भेदाभेदात्मक है। जब उस ही द्रव्यको देखें तो अभेद लगा। जब पर्यायोंको देखा तो भेद किया गया। प्रति-समयमें भिन्न-भिन्न बात। तो आपका बताया हुआ अर्थतत्त्व अभेदभेदात्मक है और आपके इस सिद्धान्तसे बाह्य जो कुछ सिद्धान्त है वह तो सब आकाशका पोल है अर्थात् सही नहीं है। एक बात और सोचना है कि पदार्थ है उसे कोई सर्वथा अभेदरूप मानता है तो ऐसा पदार्थ फिर किस कामका है? जहाँ अवस्थायें न बनें, पर्यायें न बनें, लोकके किसी प्रकार उपयोग और व्यवहारमें न आये वह सत् कैसा, पदार्थ कैसा? तो सर्वथा अभेद माननेकी यह कोई व्यवस्था नहीं बनती। और भेद ही माना जाय सर्वथा, पर्याय तो बिल्कुल अलग है, द्रव्य उससे जुदा है। तो जब जुदा मान लिया, पर्याय बिल्कुल भिन्न पदार्थ है और द्रव्य बिल्कुल भिन्न पदार्थ है तो अब यह बतलाओ कि यह कैसे समझमें आया कि यह पर्याय इसकी है? जो भिन्न है पर्याय वह तो किसी जगह भी लगा सकते। तो एक सिद्धान्तमें यह बाधा आती है कि पर्याय अगर सर्वथा भिन्न होती तो यह पर्याय इसकी है, यह कथन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नहीं बन सकता। अगर कहो कि समवायसे बन जायगा, एक समवाय सम्बंध है, जो एक घनिष्ट सम्बंध माना जाने तक बन जायगा तो कहते हैं कि समवाय तो पदार्थोंमें जाता नहीं है, इस कारण अब पर्यायका द्रव्यसे कोई नाम न रहेगा तो पदार्थका स्वरूप ही न बनेगा। हे प्रभो! ऐसा स्पष्ट कथन आपके मतमें बताया गया है। इससे अपनेको क्या शिक्षा मिलती है कि भाई जानें सब, पर जिस एक जगह रुकना है अपना उपयोग जमाना है उस अखण्ड अर्थतत्त्वका यथार्थ लक्ष्य रखें। तो समवाय सम्बंधसे मानेंगे कि यह पर्याय इसकी है, वह गुण इसका है तो एक समवायका पहले सम्बन्ध बनावें कि यह समवाय इसमें काम करता है, जब वही सिद्ध नहीं है तो गुण पर्यायका इसमें सम्बन्ध नहीं बन सकता। तो वस्तुके स्वरूपके बारेमें बताया है कि वस्तु है और सदा रहती है, इसका ही विश्लेषण है।

(२४) अर्थतत्त्वको अभेदभेदात्मक न माननेपर आत्मसिद्धिकी अशक्यता—

अभेद, भेद, ध्रुव, अध्रुव इनमेंसे कोई एक बात न माने तो काम न चलेगा। कोई कहे कि हम हैं और सदा हैं और एकरूप हैं, उसमें प्रश्न कुछ नहीं होता तो एक तो अपने मुख झूठो बात। घबड़ा रहे, व्यग्र हो रहे, इतने अटपट ओटोपाय कर रहे और कभी मुक्तिमार्गके पौरुषका यत्न भी

चाहते और कहते कि हम तो अपरिणामी, ध्रुव, ब्रह्मस्वरूप है, यह कैसे बनेगा? और मानो है ऐसा तो फिर मोक्ष काहे के लिए चाहते? जब हम अपरिणामी हैं हममें कुछ परिणमन होता ही नहीं तो मोक्षकी खोज किसलिए की जा रही? और अगर ऐसा मानें कि हम तो प्रति समयमें खूब परिणमन किया, हम खुद स्वयं जुदे जुदे पदार्थ हैं, एकका दूसरेसे कुछ सम्बन्ध नहीं। पर्याय क्या, वे तो पदार्थ ही जुदे-जुदे हैं। जब आत्मा जुदे-जुदे हैं, एक शरीरमें जो २४ घंटे प्रति सेकेण्ड समय-समयमें एक नया-नया आत्मा बनता है तो एकका दूसरे से कुछ सम्बन्ध तो न रहा, क्योंकि भिन्न-भिन्न आत्मा हो गए। तो फिर क्या जरूरत पड़ी कि हम तपश्चरण करें और मोक्ष कोई दूसरा पाये? तो जब यह माना जायगा कि हम अभेदभेदात्मक हैं, सदा रहने वाले हैं और परिणमते रहते हैं तो उसको मोक्षमार्ग मिलेगा क्या? देखो हम सदा रहते हैं, सदा रहने वाले हैं, कोई मात्र इस भवके लिए ही नहीं है, आगे भी रहेगा तो इस ही भवके आरामका, सुखका कुछ चिन्तन मत करें। कोई पुरुष एक अपने इस जीवनमें कोई बड़े सुखका साधन पानेके लिए बड़ा कष्ट सहता है और बड़ी प्रसन्नतासे सहता है तो ऐसा भविष्य जो अनन्तकाल पड़ा है उस अनन्त भविष्यमें वह शान्त रह सकें, ऐसा उपाय अगर बना सकें और उस उपायके लिए अगर यह १०-५ वर्षको

Version 1

जिन्दगी कष्ट ही कष्टमें गुजरे तो कोई नुक्सानकी बात नहीं। धीर होना चाहिए और अभिप्राय सही होना चाहिए।

(२५) अर्थतत्त्वको जाननेपर उसकी सुख प्राप्ति—

तो जब यह जाना कि हम सदा रहते हैं, रहेंगे तो उसका यह फायदा उठाना चाहिए कि एक जीवनभरके लिए ही हम सब आराम कर लें, इसके लिए कुछ नहीं है, और जब यह समझा कि हमारी पर्यायें होती हैं, अवस्थायें बनती हैं, बदलती हैं तो यह उत्साह जगेगा कि मैं अज्ञानी हूं या अज्ञानमें था उस अज्ञानको दूर कर ज्ञानमें आ सकता हूँ, क्योंकि परिणमन होता है। तो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक पदार्थका स्वरूप मानकर तथ्यको समझता है, हे प्रभु! जो ऐसा विश्वास रखता है उसका मोह छूटता है, कषायें शिथिल होती हैं और थोड़े ही काल बाद वह मोक्षमार्ग पाता है और मुक्तिको भी पा लेता है। सो प्रभु आपका सिद्धान्त बड़ा निर्दोष है, अबाध्य है। उसका सहारा ही आत्मकल्याण चाहने वालोंके लिए श्रेयस्कर है।

भावेषु नित्येषु विकारहाने
र्न कारक-व्यापृत-कार्य-युक्तिः।
न बन्ध-भोगौ न च तद्विमोक्षः
समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥ ८ ॥

(२६) नित्यानित्यात्मक पदार्थमें नित्यत्वका अपलाप करनेसे विडम्बना—

हे वीर जिनेन्द्र! आपको छोड़कर अन्य नायकों का, अन्य तीर्थंकरोंका मत समन्तदोष है अर्थात् चारों तरफसे दोषोंसे घिरा हुआ है, क्योंकि पदार्थका स्वरूप तो है स्पष्ट उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त, नित्यानित्यात्मक, और ऐसा स्वीकार न कर सभी एकान्तवादियोंने अन्य-अन्य रूप स्वीकार किया। कितना गजब है कि जैनदर्शनके सिवाय कोई भी ऐसा दर्शन होता कि जो यह कह सकता होता कि इस दृष्टिसे तो ऐसा है इस दृष्टिसे ऐसा है। देखो कौनसा आग्रह आया कि यह भी होश न रहा कि वस्तु किस दृष्टिसे किस प्रकार होती है? जो भी नजर आया उसका आग्रह किया। अब देखो एक धर्मके याने किसी भाव पर्यायके आग्रह करनेमें क्या दोष है? पदार्थ नित्यानित्यात्मक है। यह जीव सदा रहता है, इसलिए नित्य है और उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं, इसलिए अनित्य हैं। यों नित्यानित्यात्मक है। अब इनमेंसे क्या निकालकर फेंका जाय? अगर वस्तुमें से नित्यपना हटा दिया जाये तो क्या अर्थ होगा कि वस्तु सदा रहता ही नहीं।

(२७) वस्तुके नित्यानित्यात्मक गुणोंमें भेदका निष्कर्ष—

तो निष्कर्ष यह बनेगा कि हर समयमें एक नया-नया पदार्थ ही उत्पन्न होता है। सो ऐसा होनेमें क्या दोष है? यह बात आगे स्वयं स्तुतिकार कहेंगे और संक्षेपमें यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

समझना कि यदि पदार्थमें से नित्यपना हटा दिया जाय कि वस्तु एकदम अनित्य है, सर्वथा अनित्य है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिक्षण नया-नया पदार्थ उत्पन्न होता है सो ऐसा माननेसे पुद्गलपर आफत आये तो आये, क्या पड़ी, मगर खुदकी बात तो विचारो जरा। यहाँ भी यह ही बात बनेगी कि आत्मा नया-नया उत्पन्न होता है। जो सुबह था वह अगले समय नहीं, जो इस समय है सो आगे नहीं। नया-नया बनता रहता है। तो जब आत्मा नया-नया ही होता रहता है तो फिर धर्मव्यवस्था किसलिए की जाती ? किसलिए धर्मसाधना करें, संयम करें, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्षण नया-नया होता, क्षणभर हुआ और नष्ट हो गया। अब वह उसका क्या नुक्सान है ? हुआ और नष्ट हो गया, और फिर माना कि एक नित्यपनेका भ्रम लगा बैठे और संस्कारसे आत्मा धर्म करता तो उसमें भी यह विडम्बना है कि तप किसीने किया और मोक्ष किसी अन्यका हुआ, पाप किसी अन्यने किया और उसका फल किसी अन्य जीवने भोगा, क्योंकि पाप करने वाला आत्मा तो एक क्षण रह करके नष्ट हो गया। तो प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, इसमें से कुछ भी नहीं हटाया जा सकता।

(२८) नित्यानित्यात्मक पदार्थमें अनित्यत्वका अपलाप करनेपर होने वाली विडम्बना—

http://www.jainkosh.org

कोई कहे कि अच्छा पदार्थमें से अनित्यपनेको निकाल दो, पदार्थ है, सदा रहता है, नित्य ही है। तो यों सर्वथा नित्य माननेका अर्थ यह हुआ कि आत्मामें कुछ बदल भी नहीं होता, पदार्थमें कोई परिवर्तन भी नहीं होता, ऐसा सर्वथा नित्य है, क्योंकि अवस्था माना तो अर्थ यह हुआ कि उसकी बदल है, अनित्यता है। तो अनित्यपना अगर वस्तुमें से हटा दिया जाय तो वहां वस्तु सर्वथा नित्य माननेपर यह दोष है कि जो नित्य है उसमें कोई विकार नहीं हो सकता, कोई परिणमन नहीं हो सकता, कोई अवस्था नहीं बन सकती, कोई अदल-बदल हो नहीं हो सकती, क्योंकि सर्वथा नित्य मान लिया। तो सर्वथा नित्य माननेपर विकार बनता नहीं, और जब विकार नहीं बनता, अदल-बदल, परिणमन, परिवर्तन अवस्था जब न बनेगी नित्य माननेपर तो कारकके द्वारा व्यापार किया गया कार्य बन नहीं सकता। न कारक रहा, न क्रिया रही, न व्यवहार रहा, न कुछ रहा। और व्यवहार में क्या आपत्ति ? ऐसी मान्यता वाले ब्याज तो किसीसे ले ही नहीं सकते, ब्याज तो तब मिले जब एक वर्ष व्यतीत होवे। तो व्यतीत तो कुछ होता नहीं नित्यमें, पर्याय कुछ बदलती नहीं, दिन कभी होगा नहीं नित्यमें, पदार्थ कूटस्थ नित्य है तो एकान्ततः नित्य मानने वाले किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कर सकते। खाना-पीना, बोलना-चालना, ये सारे व्यवहार समाप्त हो जायेंगे, क्योंकि नित्य है। नित्यमें क्रिया क्या ? तो पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, यह पदार्थका भीतरी स्वभाव है और स्वभावमें ही निरखते जावो। आत्मा सदा रहता है, अवस्थायें बदलती हैं तो वे अवस्थायें आत्मामें ही तो हैं। आत्मासे ही निकलीं, आत्मामें ही प्रकट हुईं, आत्मासे ही हुईं अन्य किसीसे नहीं हुईं। यों आत्मतत्त्वमें निरखना जो आत्मा में आत्माकी ही बात है, दूसरेकी बात नहीं है।

(२९) वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिक योग—

प्रत्येक जीव अपना ही कुछ कर सकता है, दूसरे का कुछ कर ही नहीं सकता। वस्तुस्वरूपमें ऐसी इजाजत ही नहीं, त्रिकाल असम्भव है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका काम कर सकता नहीं। उस शरीरका भी काम नहीं कर सकता और तो जाने दो। जैसे कहते हैं लोग कि यह शरीर मेरा है, इसपर मेरा अधिकार है। इस शरीरका भी काम यह जीव कर नहीं सकता। अगर करता होता तो बुढ़ापा कौन लाता ? क्या जरूरत ? बुढ़ापा न आने देते, क्योंकि अधिकार तो जीवका शरीरपर मान लिया। जीवका तो शरीर पर भी अधिकार नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, यह वस्तु में स्वभाव पड़ा हुआ है कि कोई भी पदार्थ किसी भी अन्य पदार्थका अणुमात्रका भी परिवर्तन त्रिकाल भी नहीं कर

सकता। और जो कुछ निमित्त योगसे हो रहा है वह सब उपादानकी कला है कि कौनसा उपादान किस पदार्थका सन्निधान पाकर किसरूप परिणम जाता है। इसमें निमित्त की कला नहीं, हाँ निमित्तकी अनुकूलता तो है वहाँ। जैसे कोई पुरुष एक कुर्सीपर बैठता है तो कुर्सीपर बैठनेकी कला कुर्सीने पैदा नहीं की। बैठने वालेने अपनी कला खेली, पर हाँ इतना अवश्य है कि कुर्सी उस प्रकारकी है कि उसका सन्निधान पाकर बैठने वालेने अपने बैठनेकी कला बना ली। अनुकूल निमित्त तो है, नहीं तो बिना बुनी हुई कुर्सी हो, एकदम टूटी-फूटी उसका भी कुर्सी नाम है। मगर उसमें तो नहीं कोई बैठ पाता। अगर कुर्सीमें बैठानेकी कला हो तो जबरदस्ती बैठा ले और निमित्त बिना यह बैठ सके तो आकाशमें बैठ जाय कुर्सीकी भाँति। नहीं बैठ सकते। तो यद्यपि निमित्तनैमित्तिकयोग है, उसको इन्कार नहीं किया जा सकता, फिर भी विपरिणामनकी कला परिणमन पदार्थमें है, निमित्त में नहीं होती। इस तरह पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, सदा रहता है और प्रतिसमय उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं।

(३०) यथार्थ बोध बिना उद्धारकी असम्भवता—

वस्तुस्वातन्त्र्य व निमित्तनैमित्तिक बात जरूर बैठेगी कि इस जीवनमें हमको करना क्या है, किसलिए मद बना रहे, किसलिए रागद्वेष कर रहे, किसलिए आडम्बर,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मायाचार आदिक बना रहे ? यह जीवन क्या है ? इस प्रकार के जीवनसे तो पार न पड़ेगा। जितने समय इस शरीरमें हम बने रहे उससे पार क्या पड़ता है ? शरीरकी सेवामें, पञ्चेन्द्रियकी साधनामें क्या पार पड़ेगा ? अनन्तकालके सामने थे १००-५० वर्ष तो क्या असंख्याते वर्ष भी एक भारी समुद्रमें एक बूंद बराबर भी गिनती नहीं है, १०० वर्षकी बात जाने दो। तो इतने अनन्तकालके बीच १००-५० वर्षके लिए मायावी जीवोंके द्वारा थोड़ेसे जीवोंके द्वारा कुछ स्वार्थवश प्रशंसाकी बात गायी जाय तो यह कुछ कामकी चीज है क्या ? ध्यानमें आयगा तब जानेंगे कि मैं आत्मा नित्यानित्यात्मक हूं। इससे कोई प्रयोजन नहीं। हमारा स्वार्थ, हमारा प्रयोजन, कल्याण, उद्धार कषाय भावोंको छोड़कर अपने सहजस्वभावमें यह मैं हूं, इस तरहका लगाव अनुभव बने तो इस वृत्तिसे आत्माका कल्याण है, उद्धार है, बाकी सारी बातें बिल्कुल बेकार हैं।

(३१) संसारके भिन्न-भिन्न रूपोंका बोध—

यह संसार एक जुवाका फड़ है। यहाँ जब दूसरोंका धन देखते हैं, नेतृत्व देखते हैं, लोगोंमें कुछ पूछताछ देखते हैं, हजारों आदमियोंके बीच कोई धनी आ गया, हजारों आदमी गुण गाते हैं, भले ही स्वार्थवश सब गाते हैं, मगर लोगोंकी ऐसी पूछताछ, प्रतिष्ठा, इज्जत देखकर मन चल

उठता है कि हमारा भी ऐसा हो। यह जुवेका फड़ है। कोई ही दृढ़ ज्ञानी है, विवेकी है जो इस बातपर दृढ़ रहता है कि ये सारी बातें निःसार हैं। यह तो इसके साथ विपत्ति लगी है, इसका मन उल्टा चल रहा है, अज्ञानमें बढ़ रहा है, यह तो दयाका पात्र है, जिसकी लोकमें बड़ी प्रतिष्ठा है, बहुत बड़े ढंगसे जिसका सब कुछ स्वागत होता है, चला है और ऐसे कामके लिए उमंग रखता है तो यह तो अज्ञानी है। दयापात्र है, मिथ्यात्वके वशीभूत है। इसने मन केवल निःसार बातोंके लिए लगा रखा है। ऐसा सोचा जाय तो इसकी बुद्धि उसकी ओर न ललचायगी। जो यथार्थ बात है, तथ्यकी बात है वह ध्यानमें रहे तो अपना लालच हट जायगा। यह सब आचार। यह सब आत्माके नित्यानित्यात्मक स्वरूपके परिचयमें स्वयमेव होने लगता है।

(३२) स्याद्वाद शासनका उपकार—

हाँ, पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, ऐसा ज्ञान किसने कराया ? स्याद्वादशासनने। और इस सत्य परिचयसे जो आत्मामें तृप्ति हुई, धीरता जगी, गम्भीरता आयी, घबड़ाहट मिटी, सम्यक् प्रकाश पाया, यह सब किसकी देन है ? स्याद्वादशासनकी। पर जैसे घरमें रहने वाला बच्चा पिताके द्वारा कितना ही उपकार पाये, सब कुछ करता है पिता, लेकिन बच्चेको न जाने कौनसा दुराशय बैठा है कि जिससे चित्तमें

यह बात नहीं आती कि हम इसके आभारी हैं और कुछ ऐसा ही समझते हैं कि हमको ऐसा करना ही चाहिए। ये सब हमारे सेवक हैं, इस ढंगकी बात बैठी हुई है तो वह कभी आभार नहीं मान सकता पिताका। तो जैसे यही अज्ञान है अथवा ये तो लौकिक बातें हैं। यहाँ स्याद्वादशासनके कुलमें उत्पन्न हुए लोग भी इतना अज्ञानके वश हैं कि इतनी भी बुद्धि नहीं जगती कि स्याद्वादशासन तो एक बहुत पवित्र तत्त्व है, जिसकी छत्रछायामें ही रहकर जीव कल्याण पा सकता है अन्य प्रकार नहीं। यह स्याद्वादशासन तो अमृत है। इसके लिए तन, मन, धन, वचन सर्वस्व भी बलि हों, प्राण भी बलि हों तो स्याद्वादशासनका उपासनाका फल प्राप्त हो जाय तो यह जीव सदाके लिए अमर आनन्दमय हो जायगा।

(३३) प्रभु वीरका अमृतमयी शासन—

तो हे वीर प्रभु! आपका शासन ऐसा अमृतमयी शासन है। समन्तभद्राचार्य महावीर भगवानके स्तवनमें वह खास बात बतला रहे हैं कि जिसके कारण यह समझमें आये कि सचमुच महावीर भगवानके द्वारा जो हम लोगोंको लाभ पहुंचा, उपकार हुआ, आज यद्यपि नहीं हैं यहाँ वे प्रभु, लेकिन वे जिस जमानेमें थे उस जमानेमें उनके द्वारा जो कुछ धर्म-प्रभावना हुई उसकी परम्परा इतने दिन व्यतीत होनेपर भी हम लोगोंको वह प्रकाश मिल रहा है कि जिससे सत्य ज्ञान

पायें और संसारसंकटोंसे सदाके लिए छूट जानेका उपाय बनायें। अब सोचिये कि कितना आभार है प्रभुका याने हम कितना आभार मानें इस स्याद्वादमयी जिनवाणीका। इससे प्रकाश मिल रहा है, वस्तु नित्यानित्यात्मक है। भली प्रकार निर्णय कर लें और उससे अपने लिए शिक्षा लें। यदि पदार्थ में से अनित्यत्व धर्म उड़ा दिया जाय, केवल नित्यत्व धर्मकी ही हठ की जाय तो क्या हानि होगी? इसको समन्तभद्राचार्य वीर प्रभुके स्तवनमें बता रहे हैं कि हे नाथ! तुम्हारे स्याद्वाद शासनसे बहिर्मुख अन्य लोगोंका सब मंतव्य चारों ओरसे दूषित है। उससे लाभ भी नहीं मिलता और धीरता भी नहीं आती। क्या दोष है? यदि पदार्थमें से अनित्यत्व धर्म हटा दिया जाय, नित्य है तो उसमें विकार न होनेसे कारकके द्वारा व्यावृत कार्य नहीं बन सकता और न बन्ध बन सकेगा, न उसके भाग बन सकेंगे, न मोक्ष बन सकेगा, इस तरह हे प्रभु! आपसे बहिर्मुख अन्य जनोंका मत समन्तदोष है याने चारों ओरसे दोषरूप है।

अहेतुकत्वप्रथितः स्वभावस्त-
स्मिन् क्रियाकारकविभ्रमः स्यात्।
आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धि-
र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥ ६ ॥

(३४) अहेतुकत्वप्रथित स्वभावसे नित्य पदार्थमें विकार

मानने पर दोषापत्ति—

इससे पहिले वाले छन्दमें यह बात कही गई थी कि पदार्थोंको सर्वथा नित्य माननेपर अब उसमें विकार अथवा परिणमन नहीं माना गया, फिर तब क्रिया, कारक आदिक नहीं बन सकते हैं, और क्रिया, कारक आदिक न बननेपर बंध, मोक्ष आदिक भी कुछ नहीं बन सकते हैं। उसके उत्तरमें कुछ प्रश्न किए जा रहे हैं और उनका समाधान दिया जा रहा है। शंकाकार यहां यह कहता है कि कि पदार्थ नित्य रहा आये और उनमें विकार भी बना रहेगा और वह विकार पदार्थके स्वभावसे ही बन जायगा याने पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें विकार परिणमन होता ही रहता है। तो यों आत्मा आदिक नित्य द्रव्यमें स्वभावसे ही विकार सिद्ध हैं, ऐसा मान लिया जायगा। और जब विकार बन गया तब क्रिया कारक व्यापार आदिक भी बन जायेंगे, फिर तो बंध मोक्ष सभी ठहर जायेंगे। कोई दोष न आयगा? ऐसी आशंकापर उसपर विकल्प होता है कि यह तो बतलाओ कि विकार करनेका जो स्वभाव बताया गया है वह क्या बिना हेतुके स्वभावमें विकार चलेगा या आबालसिद्धिसे नाना कार्य सिद्धि रूप विकार चलेगा? यदि यह कहा जाय कि नित्य पदार्थमें विकारी होनेका जो तुमने स्वभाव माना है वह बिना ही किसी हेतुके सिद्ध हो जायगा तब ऐसी स्थितिमें तो क्रिया

http://www.jainkosh.org

और कारकका भ्रम ही सिद्ध होगा, क्योंकि विकार तो बिना हेतुके स्वभावसे ही बन बैठा। तो क्रिया नाम किसका? करने वाला नाम किसका? इन शब्दोंका प्रयोग करना फिर तो कोरा भ्रम ही ठहरता है, क्योंकि जब स्वभावसे ही पदार्थ का ज्ञान बन गया, पदार्थकी उत्पत्ति बन गई, सभी क्रियायें जब बन गईं तो फिर कारक क्या कि इसने किया, इस तरह हुआ, विधि-विधान बताना ये सब भ्रम ठहर जायेंगे। अगर है विधि विधान, तो है। वास्तवमें कार्य-कारण भाव तब तो स्वभाव अहेतुक सिद्ध न होगा। तो पदार्थमें विकार स्वभावसे होता है और वे बिना हेतुके होते हैं, ऐसा माननेपर समस्त क्रिया कारकोंका लोप हो जायगा।

(३५) स्वभाववादैकान्तमें विभ्रमवादकी भी असिद्धि—

अब इसी विकल्पमें दूसरी बात देखिये—यह शंकाकार बन गया स्वभाववादी याने पदार्थमें परिणमन स्वभावसे होता है तो यों हो गया स्वभाववादी। अब यह क्रियाकारका भ्रम भी मान नहीं सकता, क्योंकि यह तो है स्वभाववादी और क्रिया कारकको मान लेवे भ्रम, तो कहलाने लगेगा भ्रमवादी। तो जब भ्रम मान लिया तो भ्रमकी मान्यतापर अन्य वादका प्रसंग आयगा। अब स्वभाववाद तो स्थिर न रहा। अब इसकी मान्यतामें विभ्रमवाद भी आ गया, लेकिन हे वीर जिनेन्द्र देव! आपके शासन जो द्वेष रखता है याने

Version 1

जो स्याद्वाद शासनसे बहिर्भूत है, क्या उनके यहाँ इस प्रकार का वादान्तर बन सकता है ? नहीं बनता। क्योंकि सब कुछ भ्रमरूप है, ऐसा एकान्तरूप एक नया वाद स्वीकार करनेपर यह प्रश्न होता है कि उस भ्रममें भ्रान्ति है या अभ्रान्ति ? याने ऐसा भ्रम भ्रमरूप है या निर्भय है ? यदि कहा जाय कि भ्रम निर्भ्रम है तो अब भ्रमका एकान्त तो न रहा, कहीं तो कहना ही पड़ा कि यह भ्रम झूठा है, क्योंकि यह कहा जाय कि भ्रमके एकान्तवादमें भी भ्रम है तो भ्रमका एकान्त रहा कहाँ ? तो जो स्याद्वाद शासनसे बहिर्भूत हैं उन पुरुषोंके यहाँ न स्वभाववाद बनता है न विभ्रमवाद या वादान्तर बनता है, और इस प्रकार अब स्वभावमें निर्हेतुकताकी सिद्धि नहीं हो सकती।

(३६) आबालसिद्धिसे पदार्थोंका विकारस्वभाव माननेपर दोषापत्ति—

अब यदि यह कहा जाय कि पदार्थमें विकार तो स्वभावसे होता है, मगर वह स्वभाव चूंकि बच्चे बच्चेके सिद्ध है, इस कारणसे नाना प्रकारके कार्योंकी सिद्धि हो जाया करती है और इस तरह आबालसिद्धिसे स्वभावकी सिद्धि हो जाती है याने जब यहाँके क्रिया कारक आदिक रूप नाना अर्थोंको बालक तक भी स्वीकार कर लेते हैं इसलिए वे सिद्ध हैं तो उनका इस प्रकारसे सिद्ध होना ही स्वभाव है। यह

वादान्तर हुआ तो यह आबाल सिद्धिसे स्वभावमें विकार सिद्ध है, ऐसा यह वादान्तर भी याने एक नया कथन भी जैनशासन का विद्वेष रखने वालेके यहाँ बन कैसे सकता है ? क्योंकि इन विकल्पोंमें भी बताया कि जो आबाल सिद्धिको निर्णय बनाया वह निर्णय नित्य है सर्वथा, ऐसा एकान्तवादका आश्रय लेते, पर बन नहीं सकता, जिससे कि सब पदार्थ सब कार्य और सब कारणोंकी सिद्धि बन जाय, इसका कारण यह है कि यह निर्णय अनित्य है और बिना क्रियाके यह निर्णय बनता नहीं, इस कारण सर्वथा नित्य एकान्तके साथ आबाल सिद्धिसे स्वभाव विकारका होता है, यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। और ऐसा यदि स्वभाव ही स्वभाव माना जाय और उसमें कुछ प्रश्न न उठाया जा सके, युक्ति न बनायी जा सके तो यों सर्वथा अनित्य भी स्वभाव माना जा सकता है। फिर स्वभाव एकान्तवाद कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि स्वभावकी तो स्वभाव से ही व्यवस्था है, उसमें युक्तियाँ तो नहीं चलतीं। इस प्रकार हे जिनेन्द्र देव ! आपके अनेकान्त शासनका जो विरोध रखता है ऐसा सर्वथा एकान्तवादियोंके यहाँ कोई भी बात बन नहीं सकती, अतएव आपका शासन निर्दोष है और इस शासनके अनुसार अपना प्रयोग आचरण बनाने वाले लोग इससे अपना कल्याण प्राप्त कर सकते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

येषामवक्तव्यमिहात्मतत्त्व-
देहादनन्यत्वपृथक्त्वक्लृप्तेः ।
तेषां ज्ञतत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे
का बन्धमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥ १० ॥

(३७) **अवक्तव्यैकान्तवादमें दोषापत्ति—**

जिन पुरुषोंके यहाँ ऐसा सोच करके कि इन जीवोंको देहसे भिन्न मानते तो दोष है, अभिन्न मानते तो दोष है, इस कारण यह आत्मतत्त्व अवक्तव्य है। इस तरहसे यदि कोई अवक्तव्यपनेका एकान्त कर जाय तो वह भी अनेक दूषणोंसे दूषित है। अवक्तव्यत्वके एकान्तवादियोंके यह समस्या सामने आयी थी कि अगर आत्मा और देहको एक मान लेते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि शरीर और आत्मा एक हो गए और जब आत्मा व शरीर एक हो गए तो शरीर के साथ आत्मा रहा। जब तक शरीर है तब तक है, परभवमें फिर जायगा कैसे? शरीरसहित कोई भी तो जीव परभवमें नहीं जाता। और यदि कहा जाय कि नहीं जाता और यहाँ शरीर नष्ट होता है, मुर्दा बनता है, जलाया जाता है तो इसके मायने आत्मा भी नष्ट हो गया क्या? तो देहको आत्माको सर्वथा एक माननेपर संसारका अभाव बन जाता है, क्योंकि देहसहित आत्मा अन्य भवमें तो जा नहीं सकता, इस कारण

http://www.jainkosh.org

उसी भवमें उसका विनाश हो जायगा। और विनाश हो और नित्य रहे ये दो बातें कैसे सम्भव हैं? विनाश होना मानने पर तो ठीक चार्वाक मत आयगा याने यह शरीर पृथ्वी आदिक चार भूतोंसे बना है और ये भूत विघटे तो आत्मा भी विघट गया यों दोष आता है और यदि आत्माको देहसे भिन्न मान लिया जाता तब फिर देहमें कुछ भी काम होते रहें, फिर इस जीवको दुःख क्यों होता? और और विकल्प क्यों होते? तो जीवको देहसे भिन्न माननेपर भी बात नहीं बनती। तो इस कारण जीवको देहसे भिन्न मानना भी नहीं बनता और अभिन्न मानना भी नहीं बनता। तो यह अवक्तव्य है। इस तरह अवक्तव्यपनेका यह एकान्त बनता है। तो उस एकान्तमें क्या दोष है कि जब वह अवक्तव्य रहा तब फिर अप्रमेय रह गया याने उसका कुछ निर्णय ही नहीं बन सकता, ज्ञानमें ही नहीं आ सकता। तो फिर बंधकी स्थिति और मोक्षकी स्थिति वहाँ बँध कैसे सकती है? इस कारणसे अवक्तव्यवादियोंका एकान्त माननेपर बंध और मोक्षकी सारी चर्चायें असंगत हो जाती हैं। तो यह अवक्तव्यवाद भी उचित नहीं ठहरता।

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो
योऽयं प्रवादः क्षणिकात्मवादः ।
न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये
सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥ ११ ॥

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

(३८) क्षणिकात्मवादके साधक हेतु व प्रमाणका अभाव—

नित्यत्वके एकान्तका खण्डन होनेके बाद अब अनित्यत्ववादका विचार चल रहा है। अनित्यवादी यह कहता है कि पदार्थ क्षण-क्षणमें नष्ट होते हैं और नष्ट हुए पदार्थ दूसरे समयमें कैसे ठहरेंगे और इसी तरह मोटे रूपमें परखें तो यहाँ मरा हुआ जीव दूसरे भवमें कैसे जायगा? प्रथम तो दूसरे समय ही नही ठहरता। इस प्रकार एक क्षणिक आत्मवादका एक प्रवाद है।

(३९) क्षणिक आत्मवादके प्रवाद रूपमें शङ्का—

इस प्रवादके समयमें यह पूछा है कि इस प्रवाद को सिद्ध करने वाला कोई हेतु है या कोई प्रमाण है? क्योंकि कुछ भी हेतु यह क्षणिक एकान्तवादी बताये तो वह हेतु दृष्ट है या अदृष्ट यों दो विकल्प होंगे। दृष्टके मायने है युक्तियोंसे सिद्ध और अदृष्टके मायने है कपोलकल्पित अथवा कल्पनारोपित। इसपर यदि क्षणिकवादी यह कहें कि आत्मा क्षणिक है, क्योंकि सत् है, जो-जो सत् होते हैं वे क्षणिक होते हैं, जैसे शब्द बिजली आदिक, इनमें भी सत् है, अतः वह स्वभावसे क्षणिक ही ठहरेगा यों हमारा हेतु तो है। तो उत्तरमें कहते हैं कि अपने मुखसे कह तो लिया हेतु, मगर वह हेतु देखा गया है या नहीं याने हेतुका प्रयोग करने वाला ज्ञानीके द्वारा जाना गया है या कपोल कल्पित है? याने कल्पना कल्पनासे ही आरोपित है तो यहाँ विचार करें कि क्षणिकवादियोंके द्वारा दिया गया हेतु दृष्ट तो बन नहीं सकता, क्योंकि सब कुछ क्षणिक होनेके कारण दर्शनके अनन्तर ही उसका विनाश होने से अनुमानकालमें भी उसका अभाव हो जायगा, और सीधे समझ लीजिये कि जिस पुरुषने अनुमानसे देखा वह अनुमान करने वाला भी दूसरे क्षण तो ठहरेगा नहीं, जिस समय प्रत्यक्षसे हेतुको देखा अब अनुमान करनेका समय तो दूसरा है और अनुमानके बाद फिर दूसरा समझे उसका समय दूसरा है तब तक तो पदार्थ ही नहीं, अनुमान करने वाला भी नहीं। सुनने वाला भी सब समयोंमें नहीं। तो हेतु किसको दिखाया जाय? तो दृष्टि हेतु तो बन नहीं सकता और इसी तरह कल्पित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस कल्पनाका भी तत्क्षण विनाश हो गया। अनुमानकालमें तो रहा नहीं।

(४०) क्षणिकात्मवादमें कार्यसाधक वासना, संस्कार की असिद्धि—

यदि कोई यह कहे कि जिस समय व्याप्ति ग्रहण की उस समय हेतुके देखनेकी कल्पना हुई और उसका विनाश हो गया सो हो जाय, मगर उसकी वासना, संस्कार तो बनता रहता है तो उस संस्कारके कारण अनुमान बन जायगा। तो यह कहना भी यों युक्त नहीं है कि जब आत्मा क्षण-क्षणमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नया-नया होता है तो वासना एककी दूसरेमें कैसे पहुंच सकती है ? जैसे दो पुरुष हैं, उनमें एककी वासना दूसरेमें तो नहीं पहुंचती। तो ऐसे ही जब देहके आधारमें नये-नये आत्मा बन रहे तो आखिर हैं तो वे नये-नये आत्मा। एक आत्माका दूसरे आत्मामें संस्कार कहा जायगा, क्योंकि भिन्न संतान है तो वासनाका अस्तित्त्व नहीं बन सकता। तो जब वासना भी न बनी, हेतु भी न बना तो पदार्थ क्षणिक है। इसकी सिद्धि बन ही कैसे सकती है ? तो जैसे आत्मा तो सर्वथा नित्य माननेमें न बन्ध है, न मोक्ष है, न कार्य है, न कारण है, ऐसे ही आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेपर भी कोई व्यवस्था नहीं बनी। अब अवस्थाकी बात तो दूर रहो, मगर वहाँ तो प्रकृत-वादकी भी सिद्धि नहीं बनती याने आत्मा क्षणिक है, यह कथन भी तो न बना। तो आत्मा सर्वथा अनित्य है ऐसा जिसका एकान्त है, ऐसा पुरुष आत्माके बारेमें सम्यग्ज्ञान न होनेके कारण वह बंधसे हटकर मोक्षकी विधिमें प्रवृत्त नहीं हो सकता है, और जीवोंका ध्येय तो मोक्ष होना चाहिए। किसी भी प्रकारसे संसारके संकटोंसे छुटकारा बन जाय। जब आत्मा क्षणिक है, क्षण-क्षणमें नया-नया होता है तब फिर बंध भी कौन और मुक्त भी कौन ? किसी भी आत्माको क्या आपत्ति ? कदाचित् एक समयको कोई आपत्ति आ गई तो यह तो मिट ही गई। आपत्ति क्या रही ? और जब कोई आपत्ति ही न

http://www.jainkosh.org

रही तो फिर मोक्षका प्रयास कौन करे ? किसलिए व्रत, तप, संयम, मनका निरोध आदिक क्रियायें की जायेंगी।

तथा न तत्कारण-कार्य-भावो
निरन्वयाः केन समानरूपाः।
असत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं
दृष्टं न सिद्धयत्युभयोरसिद्धम् ॥ १२ ॥

(४१) संतानभिन्न चित्तोंमें वासना बननेकी व कारण-कार्यभाव होनेकी असम्भवता—

क्षणिकवादी लोग एक ही देहसे भिन्न-भिन्न समयोंमें भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा पृथक्-पृथक् मानते हैं। तो भला जब अलग-अलग जीव हैं तो एक जीवका विचार दूसरे जीवमें कैसे आ सकता है और फिर एक जीवने जो बात याद की वह दूसरेको कैसे याद रहेगी ? तो उनके चित्तमें वासना भी नहीं रह सकती, न खोटे कामकी, न भले कामकी वासना। जैसे कि अलग-अलग देह वाले जीवोंमें एक के किए हुए कामकी दूसरेमें वासना नहीं रह सकती। सोहनने कोई काम किया उसकी वासना मोहनमें कैसे आ सकती है ? उसकी याद भी नहीं रह सकती। तो जैसे अलग-अलग देहके जीवोंमें एकके किए हुए कामकी वासना नहीं हो सकती, इसी तरह एक ही शरीरमें उत्पन्न हुए उन भिन्न-भिन्न जीवोंमें एकके कामकी दूसरेमें वासना नहीं आ सकती और इस कारण

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उन जीवोंमें उपादान उपादेय भाव भी नहीं बन सकता याने इस जोवने जो विचार बनाया उसके अनुरूप ही अगले जीवमें विचार बने, ऐसा कारण-कार्यभाव जीवमें नहीं बन सकता। यदि ऐसा माना जाय कि एक देहमें जितने जीव पैदा होंगे उनमें उपादान उपादेय भाव बन जायगा तो भिन्न-भिन्न होने पर भी जब यहाँ उपादान उपादेय भाव बनाया तो नाना शरीरोंमें रहने वाले जीवोंमें क्यों न उपादान उपादेयभाव बन बैठेगा ? यह बात किसीको इष्ट नहीं है और न क्षणिकवादी भी चाहते हैं। इससे आत्मा क्षणिक है, नया-नया पैदा होता है यह बात मानना संगत नहीं है। मानना यह चाहिए कि जीवद्रव्य एक है और उसके परिणमन समय-समयमें जुदे-जुदे होते हैं। एक जीवके जो परिणमन हैं उन परिणमनोंको ही पूरा जीव मान लिया है क्षणिकवादियोंने, पर जिसको क्षणिक-वादी पूरा जीव मानते हैं वह तो एक पर्याय है। पर्याय पर्याय के समयमें द्रव्यसे अभिन्न रहती है और इसी कारण एक ही जीवमें एक पर्यायमें जो बात गुजरी उसका संस्कार उस जीव की अगली पर्यायमें चलता है, तो जीवको कथंचित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य माननेमें तो सर्व व्यवहार सही बनता है, किन्तु सर्वथा अनित्य माननेमें कोई सिद्धि नहीं होती।

(४२) निरन्वय चित्तक्षणोंमें एकसंतानवर्तित्व व भिन्न संतानवर्तित्वके विशेषको असम्भवता तथा किसीका किसीके

साथ समानरूप कहनेकी अशक्यता—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि एक ही शरीरसे जो क्षण-क्षणमें नाना जीव होते हैं वे होते हैं समान-समान। तो समान-समान उन जीवोंमें उपादान उपादेय भाव बन जाता याने पूर्व जीव कारण है, उत्तर जीव अर्थ है। जो-जो कुछ पहले जीवने किया है कार्य उन सबकी वासना अगले जीवमें आ जायगी, क्योंकि एक शरीरमें जितने जीव उत्पन्न होते हैं लगातार वे सब समानरूप होते हैं और समानरूप चित्त क्षणों में कारणकार्यभाव हो जायगा और जो जुदे-जुदे देहमें रह रहे उनमें समानता नहीं है, इस कारण कारण-कार्यभावका प्रसंग उनमें न आयगा ? समाधान—एक शरीरमें जितने जीव लगातार हो रहे हैं तो वे निरवन्य और क्षण-क्षणमें नष्ट होने वाले हैं, फिर उन्हें समानरूप कैसे कहा जा सकता है ? जब एक जीवका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है, जैनशासन के अनुसार पर्याय लीजिएगा। क्षणिकवादी पर्यायको ही पूरा पदार्थ मानते हैं तो जब क्षणिकवादियोंके एक जोवसे दूसरे जीवका कुछ अन्वय नहीं है याने कोई सम्बन्ध ही नहीं है, संतान ही नहीं है तो समानरूप कैसे कहा जा सकता है ? इस कारणसे युक्ति लगाकर भी क्षणिकवादियोंके एक देहमें रहने वाले जीवोंके साथ कारण-कार्यभाव नहीं बन सकता।

(४३) सत्स्वभाव व चित्स्वभावके साथ एक देहवर्ती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

चित्तक्षणोंमें समानता माननेपर भिन्न देहवर्ती चित्तक्षणोंमें भी समानताका प्रसंग और वासना एवं कारणकार्यभावके अभाव की तदवस्थता—

यदि शंकाकार यह कहे कि जितने जीव उत्पन्न हुए हैं वे सब सत् हैं और सत्त्वके नातेसे वे सब समान कहलायेंगे और समान हो जानेपर फिर कारण कार्यभाव बन जायगा, इसी तरह एक ही देहमें जितने जीव उत्पन्न होते चले जायेंगे वे सब चैतन्यस्वभावी हैं, सो चैतन्यस्वभावके नाते उन सबमें समानता बन जायगी और इस समानताके कारण फिर उनमें वासना संस्कार कारणकार्यभाव सभी बन लेंगे। तो समाधानमें यह समझना कि सत्ताके नाते जब एक देहमें लगातार उत्पन्न होने वाले जीवोंमें समानता मान ली तो ऐसी समानता तो अलग-अलग देहोंमें रहने वाले जीवोंके साथ भी है। सभी जीव सत् हैं, उनकी सत्ता है, तो सत्ताकी दृष्टिसे तो अलग अलग देहमें रहने वाले जीवोंकी भी समानता आ गई, फिर उनके साथ कारणकार्यभाव क्यों न माना जायगा ? इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देहोंमें रहने वाले जीवोंके चैतन्यस्वभावकी समानता है। सभी जीव चेतन हैं, सबमें प्रतिभास है, सबमें विचार बनता है तो चैतन्यस्वभावके नातेसे भी सभी जीवोंमें समानता है। भिन्न-भिन्न देहोंमें जितने जीव हैं, जितने भी मनुष्य हैं सब एक बराबर हैं, फिर सभी मनुष्योंमें कारण-

कार्यभाव बन जाना चाहिए, किन्तु ऐसा है नहीं, इस कारण जीवको क्षणिक माननेमें वासना संस्कार नहीं बन सकता।

(४४) उत्पन्न, सत् होकर चित्तक्षणकी हेत्वपेक्षिताकी असिद्धि होनेसे हेत्वपेक्षितासे भी समान रूप कहनेकी अशक्यता—

यदि यह कहा जाय कि एक देहमें जो अगले जीव पैदा होते हैं वे पहले जीवको कारण बनाकर होते हैं याने पहला जीव है उपादान और उत्तर जीव है उपादेय। यहाँ जीवकी जगह क्षणिकवादी चित्तक्षण शब्द कहते हैं याने पहला चित्त है, अगले चित्तका उपादान कारण। सो यह ही उपादान उपादेय भावकी समानता है याने एक देहमें, एक संतानमें जितने जीव होते हैं वे सब समान हैं ऐसा शंकाकार अपना स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उन्हें यह सोचना चाहिए कि जो अगला जीव उत्पन्न हुआ और अपने पहले जीवकी अपेक्षा कर रहा है याने पहले समयके जीवको कारण बनाकर अगला जीव उत्पन्न हुआ है तो जो अगला जीव पहले जीवको कारण बनाता है सो वह उत्पन्न होकर बनाता है या बिना उत्पन्न हुए बनाता है याने वह अगला जीव अपनी उत्पत्ति करके पूर्व जीवको कारण बनाता है या अपनी उत्पत्ति न करके पहले जीवको कारण बनाता है। इसी तरह एक भी विकल्प सोचें कि अगला जीव जो पूर्व जीवको कारण बनाकर उत्पन्न होता

है सो वह उत्तर जीव सत् होकर पहले जीवको कारण बनाता है या असत् होकर बनाता है ? यदि यह कहा जाय कि उत्तर जीव उत्पन्न होकर और सत् होकर पहले जीवको कारण बनाता है अपनी उत्पत्तिके लिए तो यह बात तो विरुद्ध बैठती है, क्योंकि पहले तो यह ही युक्ति विरुद्ध है कि जो उत्पन्न हो गया, सत् हो गया वह कारणकी अपेक्षा क्यों रखेगा ? दूसरी बात यह है कि जो सत् है वह तो अवक्तव्य है। तो वह हेतु की अपेक्षा रूपसे भी नहीं कहा जा सकता।

(४५) अनुत्पन्न, असत् होकर भी चित्तक्षणोंमें हेत्वपेक्षिताकी असिद्धि व निरन्वय चित्तक्षणोंमें समानरूपता सिद्ध न कर सकनेकी तदवस्थता—

उत्तरचित्त उत्पन्न व सत् होकर पूर्वचित्तको कारण नहीं बना सकता है, इसी तरह दूसरी बात सोचिये कि अगला जीव याने चित्तक्षण क्या अनुत्पन्न होकर, असत् होकर पूर्व जीवको अर्थात् पूर्वचित्तक्षणको कारण बनाता है ? यदि अगला जीव अनुत्पन्न होकर, असत् होकर पूर्व जीवको हेतुके रूपसे अपेक्षा करता है तो भला बतलावो कि उत्पन्न होनेसे पहले तो वह जीव असत् है और असत् कभी कारणकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि असत् है। यदि असत् कारणको अपेक्षा करने लगे तो आकाशका फूल भी किसी कारणकी अपेक्षा करे याने किसीको उपादान कर ले। और ऐसा किसीने भी नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

माना कि जो असत् है वह हेतुकी अपेक्षा रखेगा, है ही नहीं, तो वह किसकी अपेक्षा करें, उसकी तो चर्चा भी नहीं की जा सकती।

(४६) क्षणिकवादमें कार्य व व्यवहार सभाकी असिद्धि—

एक ही शरीरमें जितने जीव उत्पन्न होते चले जाते हैं वे समान कैसे कहे जा सकते हैं ? जब वहाँ सत्त्व न्यारा-न्यारा है तो वह तो अलग-अलग ही है। एकका दूसरेके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं और जब सम्बंध कुछ नहीं तो एकका दूसरे से उपादान उपादेय भाव नहीं, कारणकार्य भाव नहीं, जब कारणकार्य भाव नहीं तो जगतका कोई काम ही नहीं बन सकता। जैसे यहाँ देखा जाता कि एक मनुष्य सोता है, जगता है, काम करता है, खेती, व्यापार आदि करता है उसका फल भी पाता है, सुख भी पाता है तो ये बातें फिर कैसे हो सकतीं क्योंकि वह एक मनुष्य तो माना नहीं गया क्षणिकवादियोंके यहाँ। वहाँ तो प्रति सेकेण्ड और उसके भी हजारवें भागमें जुदे-जुदे मनुष्य बन रहे हैं। जब जुदे-जुदे मनुष्य बन रहे हैं तो एकको की हुई बातका स्मरण दूसरेको रह नहीं सकता, जैसे कि अलग-अलग देहोंमें रहने वाले जीवोंने एकके किए हुए का दूसरेको स्मरण नहीं बनता, ऐसे ही एक ही मनुष्यदेहमें जो अनगिनते मनुष्य पैदा होते हैं एक ही दिनमें उनमें कैसे एककी बात दूसरेको याद रह सकती ? और ऐसा हुए बिना

हम आप कुछ काम ही नहीं कर सकते और काम सो कर रहे हैं। तो उसका अर्थ यह ही समझना कि जीव एक है और उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं। एक होनेके कारण पहली पर्याय में किए हुए कामको दूसरी पर्याय स्मरण रखती है और यह सब व्यवहार चलता जाता है। इससे आत्माका क्षणिकवाद सही नहीं बनता।

> नैवाऽस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे
> न सन्नसन्वा विभवादकस्मात्।
> नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा सन्तान-
> भिन्न-क्षणयोरभावात् ॥ १३ ॥

(४७) पूर्व चित्तक्षणको सत् रूप हेतु माननेपर अनिष्ट दोषप्रसङ्ग—

जो दार्शनिक आत्माको क्षणिक मानते हैं क्षण-क्षणमें नया-नया उत्पन्न होता रहता है, ऐसा समझते हैं उनके यहाँ कोई कारण बन ही नहीं सकता, क्योंकि भिन्न-भिन्न जीव हैं। तो कैसे कहा जाय कि इस जीवका उस जीव के साथ कुछ सम्बन्ध है या इसका वह उपादान है, और पूर्व जीवको हेतु भी कैसे कहा जा सकता, क्योंकि वह भी क्षणिक है। जिस क्षणमें पहला जीव है उस क्षणमें नया जीव है नहीं। जिस क्षणमें नया जीव हो गया उस क्षणमें पूर्व जीव है नहीं। तो क्षणिकवादियोंके यहाँ पूर्व चित्त हेतु नहीं बन सकता।

यदि ऐसा माना जाय कि पूर्व चित्त सत् है और वह चित्तका हेतु है तो जिस कालमें पूर्वचित्त सत् है उसी कालमें उत्तर चित्त भी बन गया, और इतना ही क्यों, जितने उत्तरोत्तर जीव उपादान हुए हैं वे सब भी बन गए। तो एक ही समय में सब जीवोंकी उत्पत्ति हो गई। जब सब जीवोंकी उत्पत्ति हो गई तो सब जीवोंकी व्यापकता एक साथ सिद्ध हो जायगी। तो कहने तो चले थे क्षणिक और बन गए सर्वव्यापक, यह एक बड़ा दोष है, इसके अतिरिक्त यह भी दोष आया कि एक ही समयमें जब सब जीवोंकी उत्पत्ति हो गई तो दूसरे समय में तो अब कोई जीव रहे ही नहीं। तो इसके मायने है कि सबका मोक्ष हो गया और यदि ऐसा होता तो आज ये जीव कैसे नजर आते याने जीव बिना उपायके सिद्ध हो गए, पर दिख तो रहा है कि संसारमें इतने जीव हैं। तो जैसे उत्तर चित्तको सत् मानकर उपादान उपादेय भाव नहीं बनता था, ऐसे ही पूर्व चित्तको सत् मानकर उपादान उपादेय भाव नहीं बन सकता। इसलिए पूर्वचित्त सत् होकर हेतु तो बन नहीं पाता।

(४८) पूर्व चित्तक्षणको असत् रूप हेतु माननेपर अनिष्ट-दोषप्रसंग—

यदि शंकाकार यह कहे कि पूर्व चित्त हेतु है और असत् है तो जब असत् हेतु हो गया तो इसके मायने यह हैं

Version 1

कि उत्तर चित्तको बिना ही कारणके बन जानेका प्रसंग आ आ गया, क्योंकि असत् हेतु है। तो जब चाहे जो चाहे चित्त-क्षण उत्पन्न हो जाय तो यहाँ भी कारणकार्य भाव न बना क्षणिकवादमें। यहाँ सबसे बड़ी आपत्ति यह बतायी जा रही है कि जब एक ही शरीरमें भिन्न-भिन्न मनुष्य पैदा होते चले रहे हैं तो एक मनुष्यके किए हुए कामकी याद दूसरा मनुष्य कैसे कर लेगा ? क्योंकि वे भिन्न-भिन्न मनुष्य हैं। जैसे भिन्न-भिन्न देहके मनुष्योंमें एकके कामका दूसरा स्मरण नहीं कर सकता तो एकके देहके भिन्न-भिन्न मनुष्य भी काम स्मरण न कर सकेंगे। तो एक जीव अगले जीवका उपादान कारण नहीं बन सका।

(४६) जाग्रत चित्तक्षण व प्रबुद्धचित्तक्षणमें कालव्यवधान होनेसे कारणकार्यमें नाशोदयैकक्षणताकी असिद्धि—

इस प्रसंगमें शंकाकार यह कहता है कि कारणके नाशके बाद दूसरे समयमें हम कार्यका उत्पाद नहीं मानते, किन्तु नाश और उत्पाद एक ही समयमें हो जाते याने कारणके नाशका ही नाम उत्पाद है। जो घड़ा फूट गया, खपरियाँ बन गईं तो घड़ा फूटनेका ही नाम खपरियोंका होता है, इसी तरह पूर्वचित्तका नाश ही उत्तरचित्तका उत्पाद है। यहाँ क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि एक ही शरीरमें जैसे नाना मनुष्य, जीव उत्पन्न होते चले जा रहे हैं तो वहाँ यह व्यवस्था

है कि पूर्व जीव नष्ट हुआ, उसीके मायने हैं कि उत्तर जीव उत्पन्न हो गया। इस मान्यतामें यह आपत्ति है कि इन क्षणिकवादियोंने यह माना है कि जैसे कोई मनुष्य रात्रिके ६ बजे तक जग रहा था, ६ बजे सो गया और फिर १२ बजे जगा, तो १२ बजनेपर जो चित्तक्षण बना उसका उपादान है ६ बजेका चित्तक्षण। याने सोते समयके ३ घंटेमें तो कुछ धारदात ही नहीं हुई। तो पहले जगेका क्षण उत्तर जगनेका उपादान होता है तो इस नाश और उत्पादमें याने ६ बजेके चित्तक्षणका नाश और उत्पादमें इतना अन्तर आ जाता है। इस कारणसे पहले जगे हुए चित्तमें सोयेके बाद जगे चित्तका हेतु नहीं कहा जा सकता। तो यह बात क्षणिकवादमें तो नहीं बनी कि पूर्वचित्तके नाशका ही नाम उत्तरचित्तका उत्पाद है। हाँ जैनशासनमें पर्यायके लिए यह बात बन जाती है कि पूर्व पर्यायके नाशका ही नाम उत्तर पर्यायका उत्पाद है। यहाँ इन क्षणिकवादियोंको इतना अधिक परिश्रम दिमागका न करना चाहिए, क्योंकि वह वस्तुके विरुद्ध स्वरूप है। अतएव सही बात मान लें कि जीव एक है और उसकी पर्यायें समय-समयमें नाना होती चली जाती हैं। सो उत्तर पर्यायका उपादान पूर्व पर्याय है, इसमें सारी व्यवस्था सही होती है।

कृत-प्रणाशाऽकृत कर्मभोगौ
स्यातामसञ्चेतित-कर्म च स्यात्।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आकस्मिकेऽर्थे प्रलय स्वभावे
मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥ १४ ॥

(५०) पदार्थोंको आकस्मिक प्रलयस्वभावरूप माननेपर कृतप्रणाश व अकृतकर्मभोग व असंचलित कर्मका प्रसङ्ग—

यहाँ क्षणिकवादियोंका यह मत है कि जिस समय पदार्थ उत्पन्न होता है उसी समय वह नष्ट हो जाता है याने पदार्थका प्रलय स्वभाव है। प्रलय होनेके लिए किसी कारण की आवश्यकता नहीं है। तो जैसे पदार्थ तन्मय होनेका स्वभाव रखता है ऐसे ही कार्यकी उत्पत्ति भी बिना कारणके आकस्मिक हो जाती है। क्षणिकवादी बौद्धोंके यहाँ जीव जिस समय उत्पन्न होता है उसी समय नष्ट हो जाता है, दूसरे समय नहीं ठहरता। तो उसका विनाश होना भी बिना कारणके है और इसी तरह उसका उत्पाद होना भी बिना कारणके है, ऐसा क्षणिकवादियोंका मत है, किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि यदि जीव विना ही कारण नष्ट हो जाय तो पूर्वचित्तने जो शुभ काम अथवा अशुभ काम किया उसके फल को वह तो न भोग सकेगा, क्योंकि जीव उत्पन्न हुआ और उसी समय मर गया, फिर नया जीव हुआ, ऐसा बौद्ध लोग मानते हैं। तो जो जीव नष्ट हो गया वह अपने कियका फल तो न भोग सकेगा। तब किए हुए कर्म निष्फल हो जायेंगे, और दूसरा जीव जिसने कर्म नहीं किया था, पूर्वचित्तने किया

था, अगर इसको भोगना पड़ा तो अकृतकर्मभोग हो गया। क्षणिकवादमें ये दो सबसे बड़ी आपत्तियाँ हैं कि जो करे वह तो फल भोगेगा नहीं, और किया नहीं, छुआ नहीं वह उसका फल भोगेगा। तो ये दो बड़े प्रसंग उपस्थित होते हैं, क्योंकि क्षणिकवादका एक जीव दूसरे समय तक तो ठहरता नहीं। अगर आगेका जीव रहे तो उसकी यह बात बन सकेगी कि जिसने पुण्य-पाप किया उसीने ही फल भोगा, मगर जहाँ जीव क्षणिक है वहाँ यह कैसे सिद्ध हो सकता कि जिसने पुण्य-पाप किया वह फल भोग लेगा।

(५१) शंकाकारका एक मंतव्य—

शंकाकार ऐसा मंतव्य रखता है कि करता तो कोई है। जो करने वाला है वह तो अगले समय ठहरता नहीं, किन्तु फलकी परम्परा चलती रहती है। तो ऐसे मंतव्यमें ये दो आपत्तियाँ आयीं कि जो करे वह तो फल भोगेगा नहीं और जो नहीं करता उसको फल भोगना पड़ता है। तीसरी बात दोषकी यह आती है कि जिस चित्तने कर्म करनेका विचार किया उस चित्तका उसी क्षण निरन्वय विनाश हो गया और विचार न करने वाले आगामी चित्तका उस फलसे सम्बन्ध बनाया तो मतलब यही हुआ कि अविचारित कार्य हो गया। जिसने विचार किया उसे तो फल मिला नहीं और जिसमें विचार नहीं किया उसे फल मिल गया। तो जीवको

http://sahjanandvarnishastra.org/

सर्वथा क्षणिक माननेपर कोई व्यवस्था नहीं ठहरती।

(५२) क्षणिकवादमें मोक्षमार्गकी व्यवस्थाकी असम्भवता—

अब आगे और भी आपत्तियाँ देखिये—जीवको ऐसा क्षणिक माना शंकाकारने कि वह प्रलयका स्वभाव ही लिए हुए है याने अगले समयमें वह नष्ट हो ही जायगा, ऐसी बात होनेपर फिर मोक्षका मार्ग ही नहीं रह सकता। क्षणिकवादमें भी बताया है कि समस्त आश्रवोंका निरोध हो जाय उसको मोक्ष कहते हैं या चित्त निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, उनकी संतति नष्ट हो जाय तो मोक्ष हो जाय याने जब तक यह मानना है कि मैं आत्मा हूं तब तक तो इसकी संतति चलती है और संतति चलनेसे संसार बढ़ता है, और जिस किसी आत्माने यह बोध किया कि मैं वह नहीं हूं, मैं तो हुआ और हुएके साथ ही नष्ट हो गया, उसकी वासना न बनी तो संतति नष्ट हो गई और मोक्ष हो जायगा। तो यह मार्ग भी इस क्षणिकवादमें नहीं बन सकता जो नाशरूपको भी अहेतुक मान रहा, क्योंकि जब नाशको अहेतुक माना तो फिर मोक्षकी क्यों व्यवस्था बनाते? जो हुआ वह अकारण नष्ट हो ही जायगा। फिर चित्तकी संतति नष्ट हो उसके लिए उपाय क्यों करते, क्योंकि अब तो जीवको प्रलयस्वभावी मान लिया। हुआ तो होतेके ही साथ वह नष्ट हो गया। तो नष्ट हो ही

गया, अब चित्त संतति तो अपने आप नष्ट हो गई, फिर उसके नाशके लिए ग्रन्थ क्यों बनाये जाते हैं कि तपश्चरण करो, तत्त्वज्ञान करो, ऐसी फिर मोक्षमार्गकी रचना ही क्यों की जाती है? तात्पर्य यह है कि पदार्थ अगर स्वभावसे ही नष्ट हो जाता है तब फिर उसके नाश करनेके लिए कारण बनाने की जरूरत नहीं, न कारण बनाना चाहिए और न कारण बनानेका कोई प्रयत्न करना चाहिए। तो क्षणिकवादमें मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं बनती।

(५३) क्षणिकवादमें अन्याय, अत्याचार, हिंसा करनेपर भी उसको हिंसक सिद्ध करनेकी असंभवता—

और भी आपत्तियाँ सुनो क्षणिकवादमें कि यहाँ कोई बधक भी नहीं रह सकता। बधक मायने हिंसक, क्योंकि प्रत्येक जीव प्रलय स्वभावरूप है, और उनका ऐसा प्रत्यय होना अकारण है। तो जिस चित्तने हिंसा करनेका विचार किया वह चित्त तो उसी क्षण नष्ट हो गया और जिस चित्त का बध हुआ वह उसके प्रलयस्वभावसे ही आकस्मिक बध हो गया, वह भी अकारण बध हो गया। तो जिसने बधका विचार किया वह नष्ट हो गया, उसको तो फल नहीं मिल रहा और जिसका बध हुआ तो स्वभावसे ही विनाश हो गया। उसमें अपराध दूसरेका क्यों? और उस संततिमें जो अगला चित्त उत्पन्न हुआ वह विरुद्ध कैसे कहलायगा, जिसने बध करनेका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

का विचार किया अपराधी तो वह है, सो वह तो तुरन्त नष्ट हो गया। अब दूसरा जीव उत्पन्न हुआ तो उसे अपराधी कैसे कहा जा सकता ? तो मतलब यह है कि हिंसक भी कोई नहीं ठहर सकता इस क्षणिकवादमें।

न बन्ध-मोक्षौ क्षणिकैक-संस्थौ
न संवृतिः साऽपि मृषा-स्वभावा।
मुख्यादृते गौण-विधिर्न दृष्टो
विभ्रान्त-दृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥ १५ ॥

(५४) क्षणिकवादमें किसी भी एक चित्तके बंध मोक्षकी सिद्धिकी असंभवता—

शंकाकारके मंतव्यपर विचार चल रहा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने ही स्वभावसे दूसरे क्षण नहीं रहता। उसका प्रलय स्वभाव है। तो यों पदार्थ अकारण नष्ट हो जाता। तो क्षणभरको ठहरने वाले एक चित्तमें बंध और मोक्ष नहीं बन सकता, क्योंकि जिस चित्तका बंध हुआ वह तो उसी समय नष्ट हो गया। उसका कुछ लगार भी आगे नहीं रहता याने निरन्वय विनाश हो जाता। अब आगामी जो चित्त है उसने तो बंध किया नहीं और मोक्ष उसका बन बैठेगा। अब न्याय तो यह था कि जिस चित्तने बंध किया उसी चित्तका ही बन्ध मिटे तो उसको बन्धकी उत्पत्ति आपत्ति दूर हुई, मगर बंध तो किया दूसरेने और बिना काम फाल्तू ही मुक्त हो बैठे

http://www.jainkosh.org

दूसरेका तो एक ही चित्तके बंध और मोक्ष दोनों बनें, ऐसा न हो सकेगा। जैसा कि सब लोग यह ही समझते हैं और चाहते हैं कि जिस जीवको दुःख हुआ है, संसारमें बंधन हुआ है उस जीवका दुःख दूर हो, उसका बंधन दूर हो।

(५५) भिन्न चित्तक्षणोंमें कल्पनासे एकत्वका आरोप कर बंध मोक्षकी व्यवस्था बना लेनेका शंकाकारका एक सुझाव—

यहाँ शंकाकार कहता है कि बात तो यह नहीं है कि प्रत्येक चित्त क्षणिक है, एक क्षण ही ठहरता है, अगले क्षण नहीं ठहरता, मगर लगातार उत्पन्न होने वाले चित्तोंमें एकत्वका आरोप कर लिया जाता है मायने वह सब एक है। जैसे कि तेलका दीपक जलता है तो वहाँ एक-एक बूंद जलता रहता है। तो जो ८ बजे दीपक बजा वही तो ८ बजकर एक सेकेण्डपर नहीं है। वह तो दूसरे तेलकी बूंद जल रही है, दूसरे सेकेण्डमें तीसरी बूंद जल रही है। तो प्रत्येक सेकेण्डमें तैलकी नई बूंद जल रही है तो दीपक भी नया-नया बनता जाता है और प्रलयस्वभावके कारण मिटता जाता है, मगर एक जगह लगातार जो बूंदें जलकर दीपक बनती जा रही हैं उन अनेक दीपकोंमें एकत्वका आरोप होता है व्यवहारमें कि यह वही दीपक है, तो ऐसे ही एक देहमें लगातार अनेक चित्त उत्पन्न होते जाते हैं और नष्ट होते जाते हैं, पर उन लगातार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उत्पन्न होने वाले चित्तोंमें एकत्वका आरोप कर लिया जाता है, इसे कहते हैं कल्पना अथवा सम्वृति। तो सम्वृतिसे क्षणिक चित्तोंमें एकत्वका आरोप किया, फिर यह मान लिया कि जिसने बन्ध किया उसीको मोक्ष हुआ। यद्यपि हैं वे चित्त नाना, मगर उन अनेक चित्तोंमें जब एकपनेका व्यवहार कर लिया तो अब यह कहा जा सकता है कि एकने ही बंध किया और उस एकका ही मोक्ष हुआ।

(५६) शंकाकार द्वारा प्रस्तुत संवृतिकी अविचारितरमणीयता व असंगतता—

शंकाकारका उक्त सुझाव आया, पर उसपर बहुत कुछ विचार करना पड़ेगा और विचार करनेपर वह असंगत हो जायगा। यहाँ पहले यही प्रश्न होता है कि वह सम्वृति जिस कल्पनाके द्वारा भिन्न-भिन्न अनेक चित्तोंमें एकत्वका आरोप किया है वह मृषा स्वभाव वाली है या गौणविधिरूप है अर्थात् वह कल्पना बिल्कुल असत्य है या है तो सही, पर उसमें गौण मुख्यकी कल्पना की गई है, ये दो विकल्प उस सम्वृतिके बारेमें उत्पन्न होते हैं। जिस सम्वृतिने लगातार उत्पन्न होने वाले चित्तमें एकत्वका आरोप किया है और जिसके बलपर यह सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है कि जिसने बंध किया उसीको मोक्ष हो गया वह सम्वृति असत्य है या गौण है? यदि कहा जाय कि यह संवृति असत्य है तो असत्य

कल्पना यह व्यवस्था करनेमें समर्थ नहीं हो सकती कि क्षणिक एक चित्तमें उस ही ने बंध किया, उस ही को मोक्ष हो गया। यह कैसे सिद्ध कर लिया जायगा, क्योंकि उन नाना जीवोंमें एकत्वकी कल्पना असत्य हो गई। तो अब असत्य कल्पना कोई सत्य निर्णय नहीं हो सकती है, तब उस एकका बन्ध हुआ, उस एकका मोक्ष हुआ, यह बात मिथ्या ठहरती है। यदि दूसरा विकल्प लिया जाय कि वह सम्वृति गौणरूप है तो देखो किसीको गौण कहना मुख्यके बिना नहीं हो सकता।

(५७) शंकाकारकी शंकाका समाधान एक उदाहरण द्वारा—जैसे किसी पुरुषका नाम सिंह रख दिया तो वह पुरुष सिंहके समान क्रूर, खूंख्वार, मांसभक्षी जानवर तो है नहीं और नाम जो सिंह रख दिया, तब लोग कहते हैं कि यह तो उपचारसे नाम धरा गया है, इसके मायने यह हुआ कि वास्तवमें सिंह कोई हुआ करता है, तो वह सिंह तो नहीं है, मगर इसका नाम कुछ थोड़ा बहुत स्वभाव क्रूर होनेसे सिंह धर दिया या लोकव्यवहार चलानेके लिए कोई नाम धर दिया तो यहाँ गौण बात कहना किसी मुख्य बातको सिद्ध करती है। तो क्षणिक एकान्त चित्तोंमें एकत्वका आरोप करने वाली जो कल्पना है उसको यदि गौण कहा जाता तो अपने आप यह सिद्ध हो जाता कि कहीं ऐसा अनेक समयोंका एकत्व मुख्य भी है तो मुख्य विधिके अभावमें गौण विधि नहीं कहला सकती।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सो बतलायें ये क्षणिकवादी कि एकत्वकी मुख्यविधि कहीं है या नहीं ? यदि यह जैनदर्शनकी भाँति जीवको तो एक मान लें और उसमें प्रतिसमय होने वाली पर्यायको ये नाना मानें तो उन नाना पर्यायोंमें एक जीव चल ही रहा है तो वहाँ मुख्य और गौणकी बात बन जाती है। तो ऐसे ही उस सम्वृतिको गौण मानने वाले ये शंकाकार यदि किसी एकत्वको मुख्य नहीं करते तो गौण भी नहीं सिद्ध होता। तो यों एक चित्तमें बंध मोक्षकी व्यवस्था ये क्षणिकवादी नहीं बना सकते कि जिस जीवने बन्ध किया उस ही जीवको मोक्ष होगा। सो हे वीर जिनेन्द्र! आपके दर्शनसे जो पृथक् हो गए हैं, ऐसे क्षणिकवादियोंका यह सर्वथा एकान्तरूप दर्शन विभ्रान्त दर्शन है और सब ओरसे इसके दर्शनमें दोष आ रहे हैं। सो यह क्षणिकवाद वस्तुके यथार्थ स्वरूपको कहनेमें समर्थ नहीं है।

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न-
मातृ-घाती स्व-पतिः स्व-जाया।
दत्त-ग्रहो नाऽधिगत-स्मृतिर्न न
क्त्वार्थ-सत्यं न कुलं न जातिः ॥ १६ ॥

(५८) क्षणिकवादमें माताका बध कर देनेपर भी उसको मातृघाती सिद्ध करनेकी असम्भवता—

यह क्षणिकवादियोंके दर्शनकी समालोचना चल रही है। जो क्षण-क्षणमें पदार्थको निरन्वय विनष्ट मानते हैं

http://www.jainkosh.org

याने पहले समयमें हुए पदार्थका कुछ भी लगार आगे नहीं रहता, आगे दूसरा पदार्थ आगे पीछे लगार बिना अपने समय में होता है और बिना कारण ही नष्ट हो जाता है, ऐसा मानने पर यह तो स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक चित्त पृथक्-पृथक् है। एक ही देहमें जितने चित्त विचार जीव उत्पन्न होते हैं वे सब अपने-अपने उस समयमें ही पूर्ण और स्वतंत्र हैं। उनका पूर्व और पीछे समयमें कुछ भी सम्बंध नहीं है तब फिर बतलाओ इस दर्शन वाले अगर माताका बध कर दें तो भी उन्हें मातृघाती नहीं कहा जा सकता। जिसने मातृघातका विचार किया वह तो तुरन्त नष्ट हो गया। हाथ किसी दूसरेने चलाया, बध किसी दूसरेके क्षणमें हुआ तो कोई भी मातृघाती नहीं हो सकता। दूसरी बात—जिस समय पुत्र उत्पन्न हुआ वह तो उसी समय पुत्र था, अगले समय न वह पुत्र रहा, न वह माता रही। तब फिर कोई सम्बंध ही न रहा।

(५९) क्षणिकवादमें स्वपति, स्वजाया, दत्तग्रह व अधिगतस्मृतिकी असम्भवता—

क्षणिकवादमें काई किसीका पति भी नहीं बन सकता, क्योंकि जो विवाहित पति है, जिस क्षण पति बना वह उसी समय नष्ट हो गया। अब तो आगे कोई दूसरा अविवाहित ही जीव आ रहा है। इसी तरह कोई किसीकी पत्नी भी नहीं ठहरती, क्योंकि उस विवाहमें की गई स्त्रीका उसी

Version 1

समय विनाश हो गया। अब तो कोई अविवाहिता स्त्री ही उत्पन्न हुई है और इसके अतिरिक्त सभीको परस्त्रीसेवनका दोष आता है, क्योंकि जिनका परस्पर विवाह हुआ वे जीव तो उसी क्षण नष्ट हो गए, अब तो अविवाहित ही चल रहे हैं। क्षणिकवादके सिद्धान्तकी विपत्ति बता रहे हैं कि क्षणिक-वादियोंमें लेन-देन भी नहीं बन सकता, क्योंकि जिसने धन लिया, ऋण लिया वह तो उसी समय नष्ट हो गया। अब तो कोई दूसरा ही जीव है और इसी तरह जिसको ऋण दिया वह भी उसी समय नष्ट हो गया तो अब देने वाला भी और रहा, लेने वाला भी और रहा और उनका कोई साक्षी भी स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि वह भी उसी क्षण नष्ट हो गया, और भी आपत्तियाँ देखिये—क्षणिकवादके अनुसार किसी ने किसी शास्त्रका अध्ययन किया, तो अध्ययन करने वाला जीव तो उसी समय नष्ट हो गया। अब उसको उसके अर्थकी स्मृति कैसे रहेगी, दूसरेको स्मृति कैसे बन जायगी ? तो शास्त्र का अध्ययन करना भी निष्फल हुआ।

(६०) क्षणिकवादमें असमाप्ति क्रियाके प्रयोगकी अशक्यता—

और भी आपत्ति देखिये क्षणिकवादमें, जो वाक्य बोलते हैं कि यह मनुष्य खा करके दूकान गया तो "करके" वाली असमाप्तिकी क्रिया सही नहीं बनती, क्योंकि जिसने

खाया वह तो नष्ट हो गया, दूकान जाने वाला कोई दूसरा ही है तो 'क्त्वा' प्रत्ययका अर्थ ही नहीं बन सकता है, क्योंकि पूर्व जो क्रिया की उसका करने वाला भी वही हो और आगे जो क्रिया की उसका करने वाला भी वही हो तब तो 'करके' ऐसा बोलना ठीक बैठेगा। तो क्षणिकवादमें 'क्त्वा' प्रत्ययका भी कोई अर्थ नहीं बनता।

(६१) क्षणिकवादमें कुल, जाति आदि सभी व्यवस्थावों व व्यवहारोंकी असंभवता—

और भी आपत्ति देखिये—क्षणिकवादमें न कोई कुल बनता और न कोई जाति बनती। जैसे सूर्यवंश, चंद्रवंश आदिक जैसे कुलमें किसी क्षत्रियका जन्म हुआ, उस कुलका तो निरन्वय नाश हो गया, क्योंकि क्षणिक सिद्धान्तमें तो कुल सम्बंध कुछ रहता नहीं तो उसके जन्ममें उसका कोई कुल न रहा। यही बात जातिके सम्बंधमें समझना। तो क्षणिकवादमें एक चित्त अगले समय जब नहीं ठहरता तो वहाँ कुछ भी व्यवहार नहीं बन सकता। न कोई विधिरूप व्यवहार बनेगा और न कोई क्रियारूप व्यवहार बनेगा। यह क्षण-क्षणमें नया नया जीवका होना न तो अनुभवमें उतरता है, न युक्तियोंसे सिद्ध होता है और न आगमसे सिद्ध होता है। एक कल्पना भरसे मान लिया जाय तो यह तो मानने वालेकी खुदकी कल्पनामात्र है। तो क्षणिकवादमें सर्वथा एकान्तवाद है, वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

प्रभुका शासन नहीं है। यथार्थ तो यह है कि जीव एक है और प्रति समयमें उसके विकल्प बनते रहते हैं, सो जिसने बध किया वह आगे पुरुषार्थ करके मोक्ष पा लेता है। एक जीवके बंध, मोक्षकी व्यवस्था अनेकान्तदर्शनमें तो है, पर न तो सर्वथा नित्यवादमें बंध, मोक्षकी व्यवस्था है और न सर्वथा क्षणिकवादमें बंध, मोक्षकी व्यवस्था है।

न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था,
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत्।
अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे,
निमज्जतां वीतविकल्पधीः का ? ॥ १७ ॥

(६२) क्षणिकवादमें शास्तृशिष्यत्वव्यवस्थाकी असंभवता—

क्षणिकवादमें चित्तोंको प्रति समय विनाशीक माना गया है और ऐसा विनश्वर माना गया है कि वहाँ लगार किसी भी प्रकार न पहले था, न आगे रहेगा अर्थात् निरन्वय विनाश। तो जब एक ही देहमें उत्पन्न होने वाले चित्तोंका एक दूसरेसे कोई सम्बंध नहीं और एक-एक समयके लिए यह चित्त उत्पन्न होता है, तो कौन उपदेश देने वाला और कौन शिष्य बने ? यह व्यवस्था संभव नहीं, क्योंकि जिसको सासता माना गया है, उपदेश देने वाला माना गया है, तो वह उपदेश तो तब ही दे सकता है जब उसने पहले तत्त्वदर्शन किया हो

याने वस्तुके स्वरूपका भली प्रकार निर्णय किया हो और फिर दूसरेका उपकार हो, ऐसी इच्छा रखकर यह चाह कर रहा हो कि मैं तत्त्वका स्वरूप बताऊँ और फिर तत्त्वके स्वरूपका प्रतिपादन करें तो इनमें तो बहुत समय लग गया और इन सब कालोंमें कोई एक चित्त रहा नहीं, चित्त मायने जीव, चित्त अनेक उत्पन्न होते रहते हैं तो फिर कोई उपदेष्टाका अस्तित्व ही नहीं बन सकता, क्योंकि एक चित्त काम करेगा एक समयमें और काम जब इतने हों तब कोई एक चित्त उपदेष्टा कहला सकता। वह खुद वस्तुस्वरूपका निर्णय करे सो इसमें ही कितना समय चाहिए। फिर दूसरेके उपकारकी भावना बनाये, फिर वस्तुस्वरूपके प्रतिपादन करनेकी अभिलाषा करे और फिर तत्त्वका प्रतिपादन करे, इसमें तो बहुत समय लग जाता है, पर चित्त एक समयमें एक रहता है। तो कोई एक उपदेश सम्भव नहीं हो सकता। जैसे क्षणिकवादमें कोई शासक सम्भव नहीं है, इसी तरह कोई एक शिष्य भी नहीं रह सकता, क्योंकि शिष्य होनेके लिए इतनी बातें होनी चाहियें कि वह उपदेश सुननेकी इच्छा रख रहा हो, फिर उपदेश सुननेमें लग रहा हो, फिर सुने हुए उपदेशका अर्थ ग्रहण कर रहा हो, फिर ग्रहण किए गए उपदेशकी धारणा करे तो उसकी स्मृति बनाये, उस ही में तत्त्वका अभ्यास बनाये इतने

में कितना समय गुजर गया ? और चित्तको माना है एक समयमें रहने वाला, तो फिर कौनसा एक चित्त शिष्य बन सकता है ? तो जब न कोई उपदेष्टा बना और न कोई शिष्य बना तो यह उपदेष्टा है और मैं शिष्य हूं ऐसा ज्ञान भी किसी के नहीं बन सकता। फिर क्षणिकवादियोंने जो उपदेष्टा और शिष्यकी व्यवस्था बनाई कि कोई सुगत ऋषि उपदेष्टा है और उनके अनेक शिष्य हुए हैं, यह व्यवस्था सही हो ही नहीं सकती। तो क्षणिकवादमें उपदेष्टा और शिष्यकी व्यवस्था नहीं बनती।

(६३) क्षणिकवादमें पितृपुत्रत्व स्वामिसेवकत्व आदि व्यवस्थावोंकी असंभवता—

क्षणिकवादमें जैसे उपदेष्टा और शिष्य व्यवस्था नहीं है, इसी प्रकार स्वामी और सेवकमें भी कोई व्यवस्था न बन सकेगी, क्योंकि जो एक चित्त स्वामी हो उसको अनेक समयोंमें कोई भाव बनाना पड़ेगा जब वह स्वामी कहा जा सकता, इसी तरह जिसको सेवक कहा जाय उसको कितने विकल्प कार्य करने पड़ेंगे जिससे कि वह सेवक कहाया जा सकता है ? उन समयोंमें कोई एक चित्त तो रह नहीं सकता, क्योंकि क्षणिकवादमें चित्त जो एक समयका रहने वाला बताया गया है। तो स्वामी सेवक व्यवस्था क्षणिकवादमें नहीं है, इसी तरह पिता-पुत्रकी भी व्यवस्था क्षणिकवादमें नहीं है,

क्योंकि जिस समय पुत्र उत्पन्न हुआ है वह चित्त तो नष्ट ही हो गया। जिस समय वह पिता कहलाया उस समय वह चित्त तो नष्ट ही हो गया, अब आगे समयोंमें जो चित्त उत्पन्न हो रहे वे न पिता हैं, न पुत्र हैं और न उन चित्तोंमें पिता पुत्रका व्यवहार किया जा रहा है। तो ऐसी कोई भी सम्बन्ध विधि व्यवस्था क्षणिकवादमें नहीं सम्भव हो सकती और इस तरह तो सारा लोकव्यवहार समाप्त हो जाता है याने व्यवहार मिथ्या है, फिर न मोक्षमार्गकी व्यवस्था है, न आत्महितका कोई साधन रहेगा।

(६४) विकल्पबुद्धिसे व्यवहार व निर्णय माननेपर अतत्त्व तत्त्वादि विकल्पव्यामोहमें डूबे हुए प्राणियोंको अविकल्पधीके परिचयका सर्वथा अनवसर—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि परमार्थसे तो विधि व्यवस्था व्यवहार सम्भव है ही नहीं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वलक्षणरूप है। परमाणु भी तो कोई परमार्थ चीज नहीं है, वहाँ भी रूपक्षण, रसक्षण आदिक अनेक पाये जाते हैं और वे भी प्रतिक्षण विनश्वर हैं, ऐसे ही चित्तक्षण भी प्रतिक्षण विनाशीक है, इसलिए परमार्थसे तो उपदेष्टा शिष्यादिककी व्यवस्था नहीं हो सकती, किन्तु ये सब विकल्पबुद्धि हैं और विकल्पबुद्धिसे ही सारा व्यवहार बना हुआ है और यह विकल्पबुद्धि अनादिकालसे वासनासे उत्पन्न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हो रही है जो कि लोगोंको प्रकट सिद्ध है कि हाँ इस प्रकारकी वासना चल रही है और उसी विकल्पबुद्धिसे यह जान रहा है कि यह उपदेष्टा है और यह शिष्य है, यह हिंसा करने वाला है और इसकी हिंसा की गई है आदिक सारे निर्णय विकल्पबुद्धिसे होते हैं, और विकल्पबुद्धि भी मिथ्या मानी गई है, इस कारण क्षणिकपना ही वस्तुका स्वरूप है। ऐसी शंका करने वालेको यह विचारना चाहिए कि अगर यह सारी व्यवस्था विकल्पबुद्धिसे है और मिथ्या है तो फिर निर्विकल्प बुद्धि नाम किसका है ? यह तत्त्व है, यह अतत्त्व है ऐसा भी जो सोचता है वह भी विकल्पसे मोहमें डूबा हुआ समझिये। तो ऐसे विकल्पमोहमें, विकल्पबुद्धिमें पड़े हुए लोगोंको निर्विकल्प बुद्धि क्या चीज है इसका भी तो निर्णय बतायें, क्योंकि जितने निर्णय हैं वे सब विकल्पबुद्धि हैं। जैसे यह हिंसा करने वाला है, यह विकल्प अतत्त्वरूप है अथवा जो सदाचारके विकल्प हैं उनके तत्त्वरूप कहेंगे तो यह खोटा है, यह अच्छा है यह व्यवस्था तो विकल्पबुद्धि बननेपर ही उत्पन्न हो रही है और विकल्पबुद्धिको मिथ्या कहा जा रहा है। तो यह अतत्त्व है और यह तत्त्व है, यह रचना तो विकल्प करने वालेने ही की है, परमार्थसे तो नहीं हुई, तब फिर यह सिद्ध ही नहीं हो सकता। वास्तवमें यह निश्चयसे तो अहितकी चीज है और यह हितकी चीज है। तब फिर जितना भी क्षणिकवादमें उपदेश हुआ है वह भी सब अनर्गल समझना चाहिए, उसका आधार कुछ नहीं है। मान लो सच, मान लो या न मानो, सारी विकल्पबुद्धि है और विकल्पबुद्धि सब मिथ्या है। तो यह विकल्प व्यामोह है जिसमें कि भले बुरेका निर्णय चल रहा है, यह तो महान दुस्तर समुद्र बन गया अब उसमें डूब रहे हैं सब याने जितना भी तत्त्वका निर्णय बन रहा क्षणिकवादमें वह निर्णय क्या है ? विकल्प व्यामोहमें डूबता है। अब उनको कैसे पता पड़े कि निर्विकल्प बुद्धि इसे कहते हैं ?

(६५) क्षणिकवादमें परमार्थसत्य व व्यवहारसत्यकी द्विविधताकी व सबकी असिद्धि—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि सुगत गुरुकी देशना दो सत्योंको लेकर हुई है याने सत्य दो प्रकारके हैं—(१) लोकसम्व्यवहार सत्य और (२) परमार्थसत्य। तो कहीं लोकव्यवहार सत्य भी माना जाता है और परमार्थसत्य तो वस्तुका स्वरूप बतलाता है, ऐसे दो प्रकारके सत्य माननेसे सब विभाग बन जायेंगे। इसका समाधान यह है कि ऐसे जो दो विभाग बनाये हैं सो यह भी विकल्पबुद्धि है, परमार्थसत्य तो है नहीं, क्योंकि विकल्पमात्र ही तो इस कथनमें झलका। चित्त तो क्षण-क्षणमें नष्ट हो गए। कोई चित्त किसी तरहका निर्णय कर ही नहीं सकता, उसका तो एक ही क्षण है। उस क्षणमें वह उत्पन्न होवे या निर्णय करे, उत्पन्न हो ही पाता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है कि तुरन्त नष्ट होता है। निर्णयकी बात तो जरा भी संभव नहीं है। अब सत्य दो प्रकारके हैं, यह कथन भी विकल्पमात्र है, वास्तविक नहीं बनता।

(६६) क्षणिकवादमें कल्पित परमार्थकी तात्त्विकी बुद्धिसे सिद्धकी असम्भवता—

और भी देखिये—क्षणिकवादमें समस्त विकल्पों से रहित स्वलक्षण मात्रको विषय करने वाली जो बुद्धि है उसको तात्त्विकी बुद्धि कहा गया है याने परमार्थसत्य बताया गया है, यह बात भी सम्भव नहीं होती, क्योंकि तात्त्विकी बुद्धिके चार प्रकार बताये गए हैं, उन चारों प्रकारोंकी परमार्थकी कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। वे चार प्रकार क्या हैं—एक तो इन्द्रियप्रत्यक्ष, दूसरा मानसिक प्रत्यक्ष, तीसरा स्वसम्वेदनप्रत्यक्ष और चौथा योगिप्रत्यक्ष। तो इन्द्रिय द्वारा स्वलक्षणकी कहाँ व्यवस्था है? मनके द्वारा जो समझमें आये सो मानसिक प्रत्यक्ष है। उससे भी उस क्षणिक स्वरूपकी कहाँ व्यवस्था बनती? यह चित्त स्वयं अपने द्वारा अपना अनुभव कर ले इसे स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे भी भी समस्त जगत एक क्षणरहित है, इसकी व्यवस्था कहाँ बनो है और योगिप्रत्यक्षमें जो जैसा है सो ही तो दिखना चाहिए। जिसकी व्यवस्था ही नहीं है उसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? इसके अतिरिक्त इन चारों प्रत्यक्षोंका स्वरूप भी सिद्ध नहीं हो

सकता, क्योंकि प्रथम तो कौन प्रत्यक्ष सामान्य है, कौन प्रत्यक्ष विशेष है, इसका लक्षण वास्तविक है, अवास्तविक है, ये सारे विकल्प मात्र ही हैं, लक्षण ही विकल्प है। ऐसा यह चारों प्रत्यक्षोंका स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। वास्तविक लक्षण नहीं कहलाया, क्योंकि विकल्प व्यवहारने ही उन प्रत्यक्षोंका लक्षण बताया और विकल्प व्यवहारसे वास्तविक लक्षण जाना नहीं जा सकता, तब फिर वस्तुका स्वलक्षण स्वरूप है न यह सिद्ध होता और न इसका साधक कोई प्रत्यक्ष हो सकता। तात्पर्य यह है कि क्षणिकवादमें वस्तुकी व्यवस्था ही नहीं है और न क्षणिक होना वस्तुका स्वरूप है। जो अनेकान्त शासनसे बहिर्भूत हैं उनके यहाँ वस्तुकी व्यवस्था ही सम्भव नहीं। हे प्रभो! आपके स्याद्वाद शासनसे वस्तुका निर्णय होता है, और उसके अनुसार सन्मार्गपर चलनेसे मोक्ष की व्यवस्था बनती है।

> अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्,
> विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः।
> अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो,
> न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥ १८ ॥

(६७) योगाचार क्षणिकवादी द्वारा विज्ञानाद्वैत मात्र तत्त्वका सुझाव—

क्षणिकवादी कहते हैं कि ऐसी कोई बुद्धि नहीं है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जो बाह्य लक्षणके आलम्बनकी कल्पनासे रहित हो याने वस्तु के स्वरूपके बारेमें कोई न कोई कल्पना यह बुद्धि बनाती रहती है। जैसे स्वप्नबुद्धि किसी न किसी पदार्थका आलम्बन बनाये रहती है और वह स्वप्न बुद्धि भ्रम है याने वैसा पदार्थ है सो तो नहीं है, लेकिन ख्याल जरूर रहता है। स्वप्नके मायने क्या है कि जिस पदार्थका आलम्बन बनकर ख्यालात चला करते हैं सो पदार्थ तो वहाँ नहीं है और ख्यालात जरूर हैं। तो ऐसे ही हर समय जिन पदार्थोंका आलंबन करके ज्ञानबुद्धि चलती रहती है सो वह पदार्थ तो वास्तवमें नहीं है, पर यह ज्ञानबुद्धि, यह अवश्य चल रही है। तो पदार्थकी तो कल्पना ही की जाती है और ज्ञान प्रतिभास यह वास्तवमें हो रहा है, इस कारण प्रतिभासमात्र ही तत्त्व है, पदार्थ कोई सत्त्व नहीं है। यह शंका विज्ञानाद्वैतवादीकी ओर से है। यह भी क्षणिकवादियोंका एक भेद है, जो बाह्य पदार्थ का सत्त्व नहीं मानता, किन्तु बाह्य पदार्थका आलंबन बनाता, जिसमें आलम्बन बनता है, ऐसी बुद्धि हो तत्त्व है और वह भी क्षण-क्षणमें नया-नया होता रहता है, पर बाहरी और कोई पदार्थ नहीं है। सिर्फ चित्त क्षण ज्ञान ज्ञान ही तत्त्व है, बाह्य पदार्थ कोई तत्त्व नहीं है। बाह्य पदार्थोंको तो विकल्प वासनासे कल्पना की गई है, इसलिए केवल विज्ञानमात्र ही तत्त्व मानना चाहिए।

(६८) विज्ञानाद्वैतको सिद्ध करने वाला साधन मानने पर साध्यसाधनबुद्धिको अनर्थिका माननेके विकल्पमें दोष-प्रसंग—

विज्ञानाद्वैतको शंका होनेपर समाधान दिया जा रहा है कि जो शंकाकार विज्ञानमात्रकी सिद्धि करना चाहते हैं सो वे यह बतलायें कि विज्ञानमात्रकी सिद्धि साधनपूर्वक है या साधनरहित है याने विज्ञानमात्रकी सिद्धि किसी साधनसे हो रही है या उसकी सिद्धि करने वाला कोई साधन नहीं है। यदि कहा जाय कि उस विज्ञानमात्रकी सिद्धि साधनसहित है तो अब यहाँ दो बातें बन गईं कि विज्ञानमात्र तो साधन है और उसको सिद्ध करनेके लिए जो हेतु बताया जाय वह साधन है। तो अब दो बातें तो सिद्ध हो ही गई हैं। विज्ञानमात्रकी सिद्धि करने वाला साधन और विज्ञानमात्र तत्त्व, अब दो बातें हो गईं तो एक विज्ञानमात्र ही तो न रहा।

(६९) शंकाकारको साध्य साधनके विषयमें एक और शंका—

यहाँ शंकाकार कहता है कि साध्य साधनकी जो बुद्धि हुई है वह भी तो ऐसा विज्ञानमात्रपना है। इसकी बात कहाँसे आयी? तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि साध्यसाधन की जो बुद्धि हुई है यह बुद्धि अनर्थक है या सार्थक याने साध्य और साधन दोनों बराबर हैं तब उसे बुद्धिने जाना या साधन

http://sahjanandvarnishastra.org/

साध्य दोनों हैं ही नहीं, मिथ्या है ऐसा बुद्धिमें पाया। अगर कहो कि साध्य साधनकी बुद्धि अनर्थक है याने उसका कोई अर्थ ही नहीं है तो विज्ञानमात्र तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए जो भी हेतु दिया जाता उस हेतुकी भी सिद्धि नहीं होती। हेतु दिया जाता है प्रतिभासमात्रपना, जैसे कि स्वप्नमें जो बुद्धि हुई है वह प्रतिभासमान मात्र है, ऐसे ही जगनेमें जो बुद्धि हुई है वह प्रतिभासमान मात्र है, तो यह हेतु जब अनर्थक है, हेतुकी ही सिद्धि नहीं है तो विज्ञानमात्र तत्त्व है, इस साध्यकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। विज्ञानमात्र तत्त्वको मानने वाले क्षणिकवादियोंसे यह पूछा गया था कि विज्ञानमात्रकी सिद्धि किसी साधनपूर्वक है या साधनरहित है? उसमें यदि साधनपूर्वक विज्ञानमात्रकी सिद्धि मानी जाती है तो यहाँ दो बातें हो गईं। विज्ञानमात्र तो साध्य हुआ जिसको कि सिद्ध करना है और उसका साधन कोई अन्य हुआ। तो ऐसी वहाँ दो बातें होतीं हैं। तो विज्ञानमात्र तो न रहा उसपर विज्ञानवादियोंने यह कहा था कि साध्य और साधनकी बुद्धि भी विज्ञानमात्र है। तो इस बुद्धिके बारेमें दो विकल्प किए गए थे कि विज्ञानमात्र साध्य है और उसका साधन प्रतिभासमानपना है, ऐसी दो बातोंकी बुद्धि यदि विज्ञानमात्र ही है तो वह अनर्थक है या अर्थ वाली है? यदि अनर्थक है तो उस विकल्पका तो उत्तर दे दिया गया था।

(७०) विज्ञानाद्वैतवादको सिद्ध करने वाले साधन और साध्यकी बुद्धिको अर्थवती माननेपर शंकाकारके लिये अनिष्ट-प्रसंग—

अब यदि साध्य साधनकी बुद्धि अर्थवती मानी जाती है याने उस बुद्धिका कोई अर्थ है, उस अर्थको आलम्बन लेकर यह बुद्धि बनी है तो इसीसे ही हेतुमें व्यभिचार दोष आता है, क्योंकि घोषणा तो यह कही जा रही थी कि सर्व ज्ञान निरालम्बन है ज्ञान होनेसे याने ज्ञानका आलम्बनभूत कोई पदार्थ नहीं है और तब ही तो विज्ञानमात्र तत्त्व सिद्ध किया जा सकता था। सो कहाँ तो यह घोषणा करना कि विज्ञानमात्र तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए जो साधन दिया जा रहा है सो उस समय साधनकी विधि अर्थका आलम्बन करती है तो उस हेतुका इसीसे ही व्यभिचार आता है। व्यभिचार बन आता कि जैसे इस विधिसे सालम्बन मानें कि विज्ञानमात्र साध्य है और प्रतिभासमानपना हेतु साधन है उस विधिको जैसे जैसे अवलम्बन वाला मानता है, ऐसे ही विज्ञानमात्र तत्त्वको अवलम्बन वाला क्यों नहीं मान लेता? निष्कर्ष यह निकला कि जगतमें सब पदार्थ हैं यह सिद्ध हो जाता है, केवल ज्ञान ज्ञान ही तत्त्व है, अन्य कुछ है ही नहीं, इस मतका निराकरण हो जाता है तो। तो साध्य साधन बताया, अर्थ कहीं भी न रहे, इससे विज्ञानमात्र तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए

Report any errors at: vikasnd@gmail.com

साधन माननेमें खुदके ही उद्देश्यका निराकरण हो जाता है।

(७१) विज्ञानाद्वैत तत्त्वकी सिद्धि निःसाधना व योगिगम्य मात्र माननेपर अनेक दोषप्रसंग—

अब यदि दूसरा मूल विकल्प लेते हैं कि विज्ञानमात्र साध्यको सिद्ध तो किया जा रहा है, पर वह साधनरहित है याने विज्ञानमात्र तत्त्व किसी अनुमानसे सिद्ध नहीं है, किन्तु वह योगिगम्य है, उसको तो योगी पुरुष ही जान सकते हैं। इस विकल्पमें यह भाव है कि विज्ञानमात्रता साध्य तो है पर उसके साधनका साध्यके साथ सम्बंध भी है, यह भी सब साध्यकी कोटिमें स्थित है, इस कारण समाधि अवस्थामें जो योगीजन रहते हैं उनको जो प्रतिभास होता है ऐसा जो सम्वेदनाद्वैत है वही तत्त्व है याने उस विज्ञानमात्र तत्त्वको योगी पुरुष ही जानते हैं, क्योंकि विज्ञानमात्र जो स्वरूप है उसकी ज्ञप्ति स्वतः होती है। उसकी जानकारी किसी दूसरे साधनके द्वारा नहीं होती। वह सब अपने आप ही जाना जाता है। तो ऐसा वह विज्ञानमात्र तत्त्व योगियों द्वारा गम्य है। उक्त शंका का समाधान करते हैं कि यह कहना इस कारण ठीक नहीं कि खुद ही कहे जा रहे तो कहते जावो, पर वादियोंको तो यह बात सिद्ध है नहीं। दूसरोंको यह बात मान्य नहीं है, स्वयं अपने आपमें सभी लोग अपनी-अपनी ही बात कहते हैं, पर दूसरोंको भी संगत बैठ जाय, तत्त्व तो वह कहलायगा, क्योंकि जो तत्त्वस्वरूप है उसमें यह पक्ष नहीं है कि अमुकके लिए ही मान्य बैठे, अन्यके लिए नहीं। बिल्कुल झूठ बातमें पक्ष है कि यह अमुकके लिए ही मान्य है अन्यके लिए नहीं, पर वस्तुका स्वरूप तो एकदम प्रकट स्पष्ट है और उसे जो समझ ले वह सबके लिए मान्य होता है। विज्ञानवादियोंने जो यह हेतु दिया कि विज्ञानमात्र तत्त्व योगियोंके द्वारा ही गम्य है तो यह बात परवादी कोई नहीं मान सकता। यह तो घरेलू मान्यता ठहरी, इस कारण विज्ञानमात्र तत्त्वकी सिद्धि निःसाधना होती है ऐसा कहकर दूसरेको नहीं समझाया जा सकता कि हाँ वास्तवमें विज्ञानमात्र कोई तत्त्व है। तो इस तरह क्षणिकवादियोंमें जो पदार्थको क्षणिक मानते थे उसका निराकरण तो इससे पहले किया ही जा चुका था, अब उन्हींमें से जो केवल विज्ञानमात्र तत्त्वको ही मानते हैं याने चित्त क्षण ही मानते हैं उनकी भी बात सिद्ध नहीं हो पाती।

> तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै-
> र्विश्वाऽभिलायाऽऽस्पदतामतीतम्।
> न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं
> सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्ति बाह्यम्॥ १६॥

(७२) विज्ञानाद्वैतवादियोंका अपना संकल्पित मंतव्य—

विज्ञानवादियोंका यह कहना है कि यह विज्ञानमात्र तत्त्व समस्त विकल्पोंसे रहित है। विज्ञानमात्र तत्त्वमें न

http://www.jainkosh.org
Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो कार्यकारणका विकल्प है कि यह पदार्थ कार्य है और यह पदार्थ कारण है। वे तो व्यर्थके विकल्प हैं, ऐसा विज्ञानवादमें बताया है, इसी प्रकार विज्ञानवादके तत्त्वमें ग्राह्य-ग्राहकका भी विकल्प नहीं कि यह ज्ञान ग्रहण करने वाला है और इस ज्ञानसे इस तत्त्वको ग्रहण किया है याने ज्ञानमें जाना है और उसमें यह जाना गया ऐसा ग्राह्य ग्राहकका भी वहाँ भेद नहीं बन सकता, क्योंकि तत्त्व विज्ञानमात्र है, अद्वैत है, ग्राह्य-ग्राहक माननेसे द्वैत बन जायगा आदिक दो सत्त्व बन जायेंगे। सो विज्ञानवादियोंको ये कोई विकल्प इष्ट नहीं हैं, इसी प्रकार वास्य वासक भाव भी नहीं बन सकता याने किसी पुरुषने कोई मनमें वासना बनायी हो और उसको वासनामें किसी पदार्थका आलम्बन हो यह विकल्प भी विज्ञान अद्वैतमें नहीं है, इसी प्रकार साध्य साधनका भी विकल्प विज्ञानमात्र तत्त्व में नहीं है, क्योंकि वह तो अद्वैतको ही सिद्ध कर रहा, द्वैत पसंद ही नहीं करता। जाननेमें युक्ति देना, यह भी विज्ञाना-द्वैतवादियोंको इष्ट नहीं है। इसी प्रकार बाध्य बाधक भाव भी विज्ञानाद्वैतवादियोंको इष्ट नहीं है। बाधक जानें मायने जो भाव कोई विघ्न डाले, दूसरेको निग्रह करे और बाध्य भाव मायने जो बाधित होवे, जिसको दूर किया जा सके, रोका जा सके वह है बाध्यभाव। तो ऐसा बाध्य बाधक भाव माननेमें दो बातें सिद्ध हो जाती है, वह भी विज्ञानाद्वैतवादियोंको इष्ट

नहीं है, इसी तरह वाच्य-वाचक भाव भी इष्ट नहीं है। यह शब्द वाचक है और इस शब्दने इस अर्थको बताया है याने यह अर्थ वाच्य है ऐसा भी भेद विज्ञानाद्वैतवादमें नहीं है, ऐसा विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं।

(७३) सकलविकल्पशून्य विज्ञानाद्वैत तत्त्वको स्वसंवेद्य न हो सकनेसे असिद्धि—

विज्ञानाद्वैतवादियोंका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि जो विकल्पसे सर्वथा शून्य है वह स्वसम्वेद्य नहीं हो सकता याने और विकल्प चाहे रहें या न रहें मगर ग्राह्य-ग्राहक विकल्प तो रहेंगे ही। तब तो विज्ञानाद्वैतवादकी सिद्धि होगी। उस विज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वको किसने ग्रहण किया? किसने जाना और उसके जाननेमें यह विज्ञानमात्र तत्त्व आया इसका भी ग्राह्यग्राहक भाव न हो तो विज्ञानाद्वैतका प्रतिभास नहीं हो सकता। और यदि यह मान लिया जाय कि ग्राह्य ग्राहक भाव होने दो, विकल्पात्मक सम्वेदन होने दो तो अब मूल प्रतिज्ञा न रही कि विज्ञानाद्वैत तत्त्व समस्त विकल्पोंसे रहित है, ऐसा मन्तव्य तो संगत न रहा।

(७४) विज्ञानाद्वैत तत्त्वके सर्वथा अनभिलाप्यत्वकी असिद्धि—

विज्ञानाद्वैतवादी अपने तत्त्वको निर्विकल्प बतलाते हैं, पर साथ ही साथ वे शब्दरहित भी बतलाते हैं याने विज्ञा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नाद्वैत तक समस्त कथन प्रकारोंकी आश्रयतासे रहित है याने उस विज्ञानमात्र तत्त्वको कहने वाला कोई शब्द ही नहीं है। वह तत्त्व तो सब कल्पनाओंसे शून्य है। जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया, संकेत इनकी कल्पना ही नहीं मानी है विज्ञानाद्वैतवादियोंने। तो जब सर्व कल्पनाओंसे शून्य हो गया, जहाँ किसी भी प्रकारके शब्द और संकेतकी प्रवृत्ति ही नहीं है तो ऐसे तत्त्वके लिए विकल्पात्मक शब्दका प्रयोग किया ही नहीं जा सकता याने किसी भी शब्दसे उसका प्रयोग न होना चाहिए। विज्ञानमात्र यह शब्द भी कहाँसे लाये हैं विज्ञानाद्वैतवादी ? और अगर लाये हैं तो इतना तो मानना ही पड़ेगा कि विज्ञानाद्वैत अथवा विज्ञानमात्र तत्त्व, ये शब्द तो वाचक हो गए और इन शब्दोंसे जो बुद्धि बनाई गई है उस बुद्धिमें जो ज्ञेय बना है वह इसका विज्ञानमात्र तत्त्व है। तो वाच्य वाचकभाव ग्राह्य ग्राहक भाव ये अगर नहीं हैं तो मूलसे ही वह विज्ञानमात्र तत्त्व नहीं बनता।

(७५) पदार्थप्रतिषेधक विज्ञानाद्वैतकी मान्यता वालोंका विडम्बित विचार—

यहाँ कुछ कारिकाओंसे क्षणिकवादियोंके मतकी समालोचना चल रही है। क्षणिकवादियोंमें कोई तो पदार्थको मानते हैं। मानते क्षणिक ही हैं तो उनकी समालोचना बहुत की जा चुकी है। अब उनमें कोई विज्ञानमात्र तत्त्वको ही

http://www.jainkosh.org

मानते हैं। पदार्थको मानते ही नहीं, पदार्थको तो वे यह बतलाते हैं कि जैसे स्वप्नमें पदार्थ जाना जाता है, किन्तु पदार्थ है नहीं, ऐसे ही सब अवस्थाओंमें कभी पदार्थोंका विकल्प तो होता है, मगर पदार्थ है नहीं, है केवल विज्ञानमात्र ही। जो इस विज्ञानमात्र तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो पा रही है। अतः हे वीर प्रभु ! जो आपके स्याद्वादसे अलग है, ऐसा कोई भी सर्वथा एकान्तवाद हो, जैसे यहाँ विज्ञानाद्वैत तत्त्वकी चर्चा चल रही है वह सुसुप्ति अवस्थाको प्राप्त है याने यह तत्त्व भी सोया हुआ ही रहने दो। उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि विज्ञानाद्वैत माननेपर न तो उसमें विकल्पकी कोई गुंजाइश रखो और न किसी शब्दकी गुंजाइश रखो, तो भला जहाँ कोई विकल्प ही न बने याने निर्णय हो न बने और किसी शब्दका प्रयोग हो न हो सके तो वह तत्त्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? उसे तो सोया हुआ ही समझ लीजिए।

(७६) पदार्थप्रतिषेधक विज्ञानाद्वैतको मानने वालोंके प्रति एक उदाहरण—

जैसे सोये हुए पुरुषकी जो अवस्था होती है वही अवस्था इन विज्ञानाद्वैतवादी गुरुवोंकी समझिये। यहाँ यह फलित अर्थ समझिये कि जो बात ऋजुसूत्रनयमें मानी गई है वही बात इन क्षणिकवादियोंने मानी है। अन्तर यह है कि स्याद्वादियोंके ऋजुसूत्रनयमें ऋजुसूत्रनयकी बात कहकर भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्याद्वादका आश्रय रहता है याने द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा रहती है। निरपेक्षनय तो मिथ्या हुआ करता है। तो उस ऋजुसूत्र-नयमें यह जान जायें कि विज्ञानमात्र तत्त्व याने आत्माका सिर्फ ज्ञान सामान्य स्वरूप वह विकल्प और शब्दोंसे रहित है याने जो ज्ञानकी निजी तरंग है उस तरंगमें विकल्प नहीं स्व-भावतः मूलमें और शब्द भी नहीं। हाँ व्यवहारनयका आल-म्बन करनेपर वह विकल्प और शब्दोंका आधार बन जाता है, सो वह विज्ञानमात्र तत्त्व सविकल्प भी है, निर्विकल्प भी है, शब्द द्वारा वाच्य भी है और शब्द द्वारा अवाच्य भी है। यह सब बात हे वीर प्रभु! आपके शासनमें तो संगत है, पर जो स्याद्वादका आश्रय छोड़कर एकान्तवादमें आते हैं उनके किसी भी प्रकारकी गति नहीं बन सकती।

मूकात्म-संवेद्यवदात्म-वेद्यं
तन्म्लिष्ट-भाषा-प्रतिम-प्रलापम्।
अनङ्ग-संज्ञं तदवेद्यमन्यैः स्यात्-
त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम् ॥ २० ॥

(७७) मूकात्मसंवेद्यवत् विज्ञानाद्वैतके आत्मवेद्यत्वकी सिद्धिकी असंभवता—

अब यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि जैसे कोई गूंगा पुरुष है वह मुखसे नहीं बोल सकता, मगर स्वसम्वेदन तो वहाँ भी है। अपने ज्ञानमें अनुभव है, सुख दुःखकी वेदना है। तो उसका स्वसम्वेदन आत्मवेद्य है मायने वह खुदके ही द्वारा खुदमें अपने आपपर बीती हुई बातको समझता है। तो जैसे गूंगे पुरुषका स्वसम्वेदन आत्मवेद्य है। अपने आपके द्वारा ही जाना जाता है उसी प्रकार यह विज्ञानाद्वैत तत्त्व भी आत्मवेद्य है मायने स्वयं स्वयंके द्वारा जान लिया जाता है और आत्मवेद्य है, इस तरहके शब्दों द्वारा भी उस तत्त्वका कथन नहीं हो पाता, वह तत्त्व तो सुसम्वेद्य ही है। उस तत्त्व का कथन जैसे गूंगा बताये अपनी बोलीमें तो उस गूंगेकी आवाजमें कहा समझमें नहीं आता, उसकी भाषा अस्पष्ट रहती है और वह प्रलाप मात्र है, इस कारण निरर्थक है याने गूंगा अपनेपर बीती हुई बातका सम्वेदन तो कर लेता है, पर वह बता नहीं सकता। वह शब्दरूप नहीं है और साथ ही साथ यह भी समझना कि जब शब्द द्वारा नहीं बताया जा सकता है तो किसी अंगके सम्वेदन द्वारा भी नहीं बताया जा सकता। इस तरह तब वह विज्ञानमात्र तत्त्व न शब्दोंके द्वारा बताया जा सकता है और न किसी अंगके सम्वेदन द्वारा बताया जा सकता, तो इसका अर्थ यही तो हुआ कि वह विज्ञानमात्र तत्त्व दूसरेके द्वारा अवेद्य है याने किसी चित्तकी बातको कोई दूसरा चित्त नहीं जान सकता। और दूसरोंके लिए उसका प्रतिपादन भी नहीं किया जा सकता, तब फिर यह विज्ञानाद्वैतवादी कुछ न बोले, मौन ही बैठा रहे और जो कोई बोलेगा तो समझिये

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वह विज्ञानाद्वैतवादमें नहीं है।

(७८) स्याद्वादशासनविद्वेषियोंके मंतव्यको असंगतता—

हे वीर जिनेन्द्र ! जो आपके स्याद्वाद मतसे द्वेष रखते हैं उन क्षणिकवादियोंका, ज्ञानाद्वैतवादियोंका जो कुछ भी यह कहना है कि विज्ञानमात्र तत्त्व अवाच्य है तो इन शब्दोंसे तो वाच्य बन गया ना, सर्वथा अवाच्य कैसे रहा याने कोशिश करते हैं वे अपनेमें विज्ञानमात्रको समझानेकी कि इसका स्वरूप अनभिलाप्य है, अवाच्य है, किसी भी प्रकारके शब्दोंमें ये अपने विज्ञानमात्र तत्त्वको बताना चाह रहे और बता रहे हैं, चाहे अवाच्य शब्दको ही बताया हो, मगर शब्द तो काममें आया और उन शब्दों द्वारा कुछ समझा तो वह विकल्प भी तो बना, तो ऐसा विज्ञानमात्र तत्त्व विकल्पसे शून्य और शब्दसे शून्य कहाँ रहा ? जिसका यह सिद्धान्त हुआ कि वास्तविक जो तत्त्व है वह शब्दोंसे परे है और उसका ग्रहण भी नहीं होता, तब उस तत्त्वकी प्रतिष्ठा ही क्या है और इनके फिर बतानेका तरीका ही क्या है ? लोग उसे कैसे समझ पायें ? तो ज्ञानाद्वैतवादियोंका यह कहना है कि यह तत्त्व सर्वथा अवाच्य है। लो उन्होंने ऐसा कहकर उसकी प्रसिद्धि तो की है, वाच्य तो बन गया। और जब वाच्य बन गया तो शब्द भी रहे, अर्थ भी रहे, पदार्थ भी रहे और ज्ञान-मात्र तत्त्व भी रहा, सभीकी सिद्धि हो जाती है। जो ये पदार्थ

http://www.jainkosh.org

बहुत स्पष्ट नजरमें आ रहे हैं—सामान लाना, भोजन बनाना, भोजन करना, उस सामानका उपयोग करना, दूसरोंसे बात करना, ये सब बातें व्यवस्थापूर्वक जो बन रही हैं वह व्यवस्था ही यह सिद्ध करती है कि जगतमें पदार्थ नाना हैं, केवलज्ञान ही ज्ञान है सो बात नहीं है। सबकी सत्ता है।

(७९) जैनशासनमें अनन्त पदार्थोंकी घोषणा व व्यवस्था—

जैनशासनमें ६ प्रकारके द्रव्योंकी घोषणा की है कि इस लोकमें अनन्तानन्त जीव हैं, उनसे भी अनन्ते गुणे पुद्गलद्रव्य हैं। एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, एक आकाशद्रव्य है और असंख्यात कालद्रव्य है, और ये सभी द्रव्य परस्परमें एक दूसरेका उपग्रह कर रहे हैं याने दूसरेकी किसी भी प्रकारकी विशिष्ट या अविशिष्ट परिणतिमें निमित्त हो रहे हैं। जैसे सभी पदार्थ प्रतिसमय पर्याय बदलते रहते हैं, यह कालद्रव्यका उपकार है। जीव और पुद्गल कहींसे कहीं गमन करते रहते हैं तो इसमें धर्मद्रव्यका उपग्रह है। चलते हुए जीव और पुद्गल किसी जगह थम जाते हैं तो यह धर्मद्रव्यका उपग्रह है और ये पदार्थ आकाशमें बने हुए हैं ऐसा अवगाह होना यह आकाशद्रव्यका उपग्रह है। तो ये सभी पदार्थ परस्पर उपग्रह करते हुए अपनी सत्तामें ठहरे हुए हैं। इनमें से किसी भी पदार्थका अपलाप करना संगत नहीं है, क्योंकि ये सभी प्रत्यक्ष-

Version 1

सिद्ध हैं, युक्तिसिद्ध है और वीतराग आर्षवाणीकी परम्परासे चली आयी है, ज्ञात हो रही है। इस तरह सब पदार्थ हैं और वे सभी पदार्थ सदा रहने वाले हैं, उनका प्रतिसमयमें परिणमन होता रहता है। तो पर्याय पर्यायको आपसमें निरखा जाय तो वे भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु वे पर्याय स्वतंत्र सत् नहीं है, द्रव्यकी ही विशेषता है, इस तरहसे निरखा जाय तो सभी व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं और बंध मोक्षकी व्यवस्था भी सही बन जाती है। जिसने बंध किया वही मोक्ष पाता है, यह स्याद्वादकी व्यवस्था है। जिसने हिंसा किया वह पाप बाँधता है और उसका फल पाता है। यह स्याद्वादमें व्यवस्थित है। तो स्याद्वादसे बाहर होकर जो विज्ञानमात्र तत्त्वकी मान्यता करते हैं, हे प्रभु! वे अपना कुछ भी उपकार नहीं कर सकते हैं।

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता
शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः।
अहो इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत् त्वया
विना श्रायसमार्य! किं तत् ॥ २१ ॥

(८०) शास्ताके स्पष्ट वचनोंसे भी शिष्य शिक्षित न हो सकनेके कथनकी महान्धकाररूपता —

क्षणिकवादियोंके शासनमें कहा है कि उपदेष्टा बुद्धदेवने निर्दोष वचनकी शिक्षा दी, वे बुद्धदेव यथार्थ दर्शन आदिक गुणोंसे सम्पन्न थे, इसी कारण निर्दोष वचनोंकी शिक्षा

दी, लेकिन उन वचनोंके द्वारा उनके वे शिष्य शिक्षित न हुए, यह बात कही है क्षणिकवादकी महिमाको बतानेके लिए, मगर यह उनका कथन कैसा दुस्पार महामोह है, अत्यन्त कठिन अन्धकार है कि भला बतलाओ कि गुणवान तो उपदेष्टा हो और अच्छे शिष्य हों और फिर भी सत्व वचनोंके द्वारा शिक्षा न मिले यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है. क्योंकि न्याय यह ही है कि उपदेष्टा गुणवान है और सुनने वाले शिष्य समझदार हैं और गुणवान उपदेष्टाके वचन सत्य निकल रहे हैं तो वे जरूर ही तत्त्वकी शिक्षा पायेंगे, लेकिन यहाँ जब ऊँचा उपदेष्टा शिक्षा बताये और उसके वचनोंको शिष्य सत्य स्वीकार करे और प्रवचन सुननेके लिए बड़ा चित्त रखने वाले शिष्योंको बताये और फिर भी कहते हैं कि वे शिष्य गुरुके वचन सुनकर भी शिक्षित न हो सके। तो यह कैसा हास्यास्पद कथन विदित होता है।

(८१) कल्पनाबुद्धिसे शास्ता, शिष्य, शासन आदि व्यवस्था माननेपर सम्वेदनाद्वैतको निःश्रेयसरूपता की असिद्धि—

यहाँ शंकाकार कहता है कि बात यह हुई है कि क्षणिकवादियोंके शासनमें कल्पनासे ही उपदेष्टा, शिष्य, शासन और शासनके उपायभूत वचन इनका सद्भाव स्वीकार किया है और परमार्थसे तो केवल विज्ञानाद्वैत वह ही निर्वाणरूप है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स कारणसे क्षणिकवादियोंका यह दर्शन हास्यास्पद नहीं है ौर यह बात बता देते कि उपदेष्टाने उपदेश दिया और शिष्यों उसे समझ लिया तो उसमें क्षणिकवाद नहीं रहता और ाथ ही विज्ञानवाद नहीं रहता। क्षणिकवाद तो यों नहीं हता कि जब उपदेष्टा कितने ही समय तक स्थित माना जाय ब ही तो उपदेष्टा होगा। समझ भी शिष्योंको तब ही बनेगी ब बहुत समय तक एक चित्त याने जीव रहे, सो क्षणिकवाद ं ऐसा है नहीं।

(८२) **संवेदनाद्वैतकी निःश्रेयसरूपताकी असिद्धिकी सरी बात—**

दूसरी बात विज्ञानाद्वैतवादमें कहाँ उपदेष्टा, हाँ शिष्य, कहाँ वचन ये तो बहुतसी बातें कहनी पड़ीं, र तत्त्व तो सिर्फ विज्ञानमात्र है, इस कारण परमार्थसे ो विज्ञानमात्र तत्त्व है और वही निर्वाण स्वरूप है और ल्पनामें फिर कोई उपदेष्टा है, कोई शिष्य है, कुछ वचन हैं, फर यह व्यवहार चल रहा। उक्त शङ्काके समाधानमें कहते कि यह सब विडम्बना स्याद्वादशासनसे बहिर्भूत हो जानेसे त्पन्न हुई है। हे आर्य, हे वीर जिनेन्द्र! आपके बिना निश्रे- स बनेगा कहाँसे ? याने स्याद्वादके नायक प्रभु जिनेन्द्रके उप- शके अभावमें निर्वाणका उपाय नहीं बन सकता। सर्वथा कान्तवादका सहारा लेने वाले उपदेष्टाके द्वारा कुछ भी संभव

http://www.jainkosh.org

नहीं है।

(८३) **कल्पनाबुद्धिकी मान्यतासे विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि की असंभवता—**

विज्ञानाद्वैतके विषयमें बहुत बाधाओंसे बताया गया था कि विज्ञानाद्वैत तत्त्वकी सिद्धि ही नहीं होती, क्योंकि सब कुछ दिख रहा, बीत रहा। कैसे कहा जाय कि यह सब कुछ नहीं है ? स्वप्नका दृष्टान्त देकर जागृत दशाकी बातको भी बहकाना, यह कहाँ तक उचित है ? भले ही स्वप्नमें कल्पना ही कल्पना चलती है मनुष्यको, वहाँ पदार्थ कुछ नहीं, लेकिन पदार्थ कुछ होता ही न हो कभी भी तो स्वप्नमें भी कल्पना कहाँसे आ जाय, जैसे मानो स्वप्नमें मनुष्यने बड़ी यात्रा की, पहाड़पर चला तो यात्राके सिवाय नहीं है पहाड़, मगर पहाड़ कहीं हुआ ही तो करता है और उन सबका ज्ञान इसने जगतमें किया या देखा या काम किया उसकी कल्पना स्वप्नमें हुई, मगर कोई पदार्थ ही नहीं है तो तद्विषयक कल्पना भी नहीं आ सकती है। भले ही कल्पनाके समयमें सामने पदार्थ नहीं है, मगर कहीं है तो सही और फिर जागृत दशामें तो सामने पदार्थ है, उनका अध्ययन होकर ज्ञान बन रहा है, फिर कैसे ज्ञानमात्र तत्त्वको निरालम्बन कहा जाता है। और फिर यहाँ जो शङ्काकारने कल्पना और परमार्थ ऐसे दो रूप बताये तो उन दो रूपोंके कथनमें ही यह सिद्ध हो जाता है कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सर्वथा एकान्तवाद कुछ नहीं है। आखिर हेतु मानना ही पड़ा। इस प्रकार विज्ञानाद्वैतवादमें कोई तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिंग-गम्यं न तदर्थ-लिङ्गम्।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः
का तद्गतिः ? कष्टमशृण्वतां ते ॥२२॥

(८४) क्षणिकवादियोंके भेद विज्ञानाद्वैतका विवरण—क्षणिकवादियोंका भेद जो एक विज्ञानाद्वैतवाद है उसमें प्रत्यक्षबुद्धि तो प्रवृत्त होती नहीं याने विज्ञानाद्वैत प्रत्यक्ष से समझमें नहीं आता। इस विषयमें पहले विवरण किया गया था कि प्रत्यक्ष चार प्रकारके माने गए हैं—(१) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, (२) योगिप्रत्यक्ष, (३) सुसम्वेदनप्रत्यक्ष और (४) मानसिक प्रत्यक्ष। इन चारों प्रत्यक्षोंका विषय विज्ञानाद्वैत सिद्ध नहीं हो पाता। जिस सम्वेदनाद्वैतमे प्रत्यक्षबुद्धिकी प्रवृत्ति नहीं है उसे लिंगगम्य भी नहीं माना जा सकता। लिंग गम्यके मायने यह है कि उसका कोई कार्य देखा जाय और उस कार्यसे फिर ज्ञानाद्वैतकी पहिचान करायी जाय। लिंग दो प्रकारके माने गए हैं—स्वभावलिङ्ग और कार्यलिङ्ग याने एक तो पदार्थका सुगमतया स्वभावसे ही परिचय बन जाय और एक कार्य देख करके परिचय बन जाय तो स्वभावलिङ्ग

से तो सम्वेदनाद्वैतका परिचय होता नहीं। जैसे कि प्रत्यक्षबुद्धि से सम्वेदनाद्वैतका परिचय नहीं बनता, मगर कहनेमें स्वभाव-लिंगसे ज्ञानाद्वैतका परिचय किया और स्वभावलिङ्गका अन्य साधनसे परिचय किया। तो जब तो उस साधनका भी अन्य साधनोंसे परिचय बनाया। यों अनवस्था दोष आ जायगा। दूसरा है कार्यलिङ्ग याने ज्ञानमात्र तत्त्वका कोई कार्य देखा जाय और उस कार्यसे फिर ज्ञानमात्र तत्त्वको माना जाय तो यह लिङ्ग भी सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर द्वैतवाद का प्रसङ्ग आ जाता है जो कि शङ्काकारको इष्ट नहीं है, क्योंकि कार्य हो गया और कारणभूत विज्ञानमात्र तत्त्व हो गया, तो अब खाली विज्ञानमात्र ही तो न रहा, कार्य भी तो उसका बना पदार्थका ज्ञान या और कुछ भी बात। कहीं झूठे कार्योंसे परमार्थ तत्त्वकी सिद्धि नहीं की जा सकती। विज्ञान-मात्र तत्त्व माननेमें और भी दोष देखिये कि जो वचन बोले जायेंगे वे तो दूसरोंके समझानेके लिए बोले जाते हैं याने वचन परार्थ अनुमानरूप होते हैं। तो उन वचनोंका विज्ञानाद्वैत विषयके साथ संयोग नहीं बैठता। परम्परासे भी सम्बन्ध नहीं बनता, फिर उस विज्ञानाद्वैत तत्त्वकी किसी भी प्रकार जान-कारी नहीं बन सकती याने विज्ञानमात्र तत्त्व न तो प्रत्यक्षसे सिद्ध है, न अनुमानसे सिद्ध है और न वचनोंसे सिद्ध है। तो विज्ञानमात्र तत्त्व है ही नहीं। तो ज्ञान तो है, मगर सिर्फ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ज्ञान ही हो और कुछ न हो यह बात युक्त नहीं है, इस कारण हे वीर जिनेन्द्र ! आपकी वाणीको न सुनने वाले बौद्धोंका यह ज्ञानाद्वैतवादका दर्शन कष्टरूप ही है अर्थात् ऐसी क्लिष्ट कल्पना को समझनेमें दिमाग उलझाना पड़ता है और जीवका इसमें कुछ भला नहीं हो पाता।

> रागाद्यविद्याऽनल-दीपनं च
> विमोक्ष-विद्याऽमृत-शासनं च।
> न भिद्यते संवृति-वादि-वाक्यं
> भवत्प्रतीयं परमार्थ शून्यम् ॥ २३ ॥

(८५) विज्ञानाद्वैत तत्त्वकी प्रतिपत्तिको काल्पनिक मानने का स्वघाती विडम्बित कथन—

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि तत्त्व तो परमार्थसे विज्ञानाद्वैत है, पर उसकी प्रतिपत्ति अर्थात् जानकारी हम कल्पनासे मान लेंगे तो फिर क्षणिकवादियोंका यह दर्शन कष्टरूप न बनेगा। इस शङ्काका समाधान करते हैं कि यह कहना भी यों ठीक नहीं है कि कल्पनावादियोंका जो उपदेश है वह परस्पर भेदको लिए हुए हैं। तो कैसे नहीं भेद बनता? जैसे एक जगह उपदेश किया है कि जो लोग कहते हैं कि स्वर्गकी इच्छासे यज्ञ करें, यह परमार्थशून्य बात ह, मीमांसकों के मन्तव्यका निषेध किया है बौद्धदर्शनमें। मीमांसकोंका मन्तव्य है कि "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" याने स्वर्गकी

http://www.jainkosh.org

इच्छा करने वाले पुरुष अग्निसे यज्ञ करें। सो इसको बतलाते हैं बौद्धजन कि "यह रागादिक अविद्यानलदीपन है" अर्थात् रागादिक जो अज्ञानरूप अग्नि है उसको प्रदीप्त करने वाला वचन है, क्योंकि इस वचनने द्वैतमें भ्रमाया, व्यवहार क्रियाकाण्डमें लगाया, स्वर्गादिक बताया, तो ये सब रागादिकको बढ़ाने वाले वचन हैं, ऐसा कथन है।

(८६) बौद्ध जनोंका एक और विचार—

तो दूसरी ओर ये बौद्ध कहते हैं—"सम्यग्ज्ञान वैतृष्णभावनातो निश्रेयसं" अर्थात् सम्यग्ज्ञान बने और तृष्णारहित भावना बने तो उससे मोक्ष मिलता है। तो यह कहलाया मोक्षविद्यामृतका शासन, इसको भी परमार्थशून्य कहते हैं। सो जब दोनोंमें ही परमार्थशून्यताका कोई भेद नहीं ठहरता, क्योंकि जब तत्त्वमात्र विज्ञानाद्वैत है तो मोक्षका उपाय बनाना भी परमार्थशून्य है, और कुछ वचन बोलना भी परमार्थशून्य है। तो जब वह परमार्थशून्य ही रहा तो उसमें किसी प्रकारका उपदेश करना कैसे युक्त हो सकता है ? तो विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, परमार्थ कुछ है ही नहीं। जीव आत्मा आदिक कुछ है ही नहीं तब फिर यह विडम्बना क्यों बनी ? और फिर विडम्बना छूटनेका उपाय भी कुछ नहीं बन सकता है। सो हे वीर जिनेन्द्र ! आपके प्रत्येक वाक्य स्याद्वादसम्मत हैं और स्याद्वाद शासनसे पृथक् सर्वथा एकान्त विषय

Version 1

करने वाले जो वचन हैं वे आपके शासनके विरुद्ध हैं और इसी कारण परमार्थशून्य है ।

(८७) संयोगज आकारोंमें मिथ्यारूपताकी सिद्धि न होकर मायामयताकी सिद्धि—

इस सम्बंधमें यथार्थता यह समझिये कि जैसे बाहरमें ये अनेक अचेतन पदार्थ दिख रहे हैं देह, मकान आदिक उसी तरह इस देहके अन्दर आत्मा विराजमान है। जो ज्ञानस्वरूप है । अब यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपकी सुध छोड़कर इन बाहरी पदार्थोंमें अनुराग करने लगता है तो उसका संसार बढ़ता है, जन्म-मरणकी परम्परा चलती है और जब यह अपने आत्माका सत्त्व अपनेमें जानता है और इनपर पदार्थोंका सत्त्व इन पदार्थोंमें ही समझता है और इस समझ के कारण परपदार्थोंसे विरक्त रहता है, अपने आपके स्वभाव के अभिमुख होता है तो इसको कल्याणका मार्ग मिलता है, शान्तिका लाभ होता है । तो ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपकी सुध लेना, यह तो है कल्याणका उपाय, लेकिन ज्ञानमात्र ही तत्त्व है और बाकी ये सब दिखने वाले पदार्थ मिथ्या हैं, हैं ही नहीं । केवल भ्रम है, ऐसा बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व मना कर देनेपर तो विज्ञानमात्रकी सिद्धि करना कोई बुद्धिमानी नहीं है । जैसे सब हैं, ज्ञानस्वरूप आत्मा है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले पुद्गल पदार्थ हैं कालद्रव्य है, आकाशद्रव्य है, और जीव

पुद्गलकी गति एवं स्थितिका निमित्तभूत धर्म और अधर्मद्रव्य भी है, अनन्तानन्त पदार्थ हैं । उनकी सत्ता स्वीकार कर लें तो यह यथार्थ जानकारी है । अब यह जीवमें ज्ञानबल है कि संसारके सभी पदार्थोंका ज्ञाता दृष्टा रहे, उनमें मोह न करे और उनसे हटकर मात्र अपने स्वरूपमें लगे, यह तो कल्याण चाहने वाले जीवका पुरुषार्थ है । अब किन्हीं संन्यासियोंने यथार्थ ज्ञानियोंके मुखसे यह तत्त्व सुना होगा कि जीवका कल्याण विज्ञानमात्र आत्मतत्त्वमें लीन होनेसे होता है और अन्य समस्त पदार्थ इस जीवके लिए मायारूप हैं । मायारूप तो यों हैं कि अनेक पदार्थोंका मिलकर यह आकार बनता है । जो भी आकार नजरमें आ रहा है वह अनेक परमाणुओंका मिलकर स्कंध होनेपर यह आकार बना है सो यह आकार शाश्वत नहीं है । जब वह आयु विघट जायगी तो यह आकार भी विघट जायगा, इसीलिए तो मायारूप है, पर इस मायारूपका यह अर्थ नहीं है कि वह पदार्थ कुछ हो ही नहीं । मिलकर स्कंध बना तो उनका वर्तमान रूप यह है और विघट करके छोटा स्कंध रह जायगा तो उनका वर्तमानरूप वह है और वह भी विघट जायगा, सिर्फ परमाणु परमाणु बन जायगा, तो वह एक प्रदेशाकार रहेगा, पर सत्ता तो नहीं मिटती ।

(८८) मायाकी हेयता व ज्ञानस्वरूपकी आदेयता—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

संयोगज मायामय स्वरूपको मानो किन्हीं माया-वियोंने मिथ्या रूप ही दे दिया हो, यह केवल भ्रमसे ही दिखता है, इसकी सत्ता कुछ नहीं है तो यह उनके ज्ञानकी निर्बलता है। यह जगत अनन्त पदार्थोंका समूह है, न कि ज्ञानाद्वैतमात्र जगत है। उन अनन्त पदार्थोंका सही स्वरूप जाने बिना, उनसे उपेक्षा कैसे हो सकती और आत्माका यथार्थ स्वरूप जाने बिना उसकी ओर अभिमुखता कैसे हो सकती ? इससे मानना तो सभी पदार्थोंको चाहिए जो-जो सत्त्वमें हैं, पर कल्याणके लिए कहाँ दृष्टि देना ? उसका निर्णय करके वहाँ दृष्टि देनी चाहिए और कहीं अपनेको न फंसाना, ऐसा निर्णय करके उन सब हेय पदार्थोंसे अपनेको निवृत्त होना चाहिए। तो हेय और उपादेयकी समस्याओंका यह ही एक समाधान है कि जो आत्मस्वरूप है वह तो सदा आत्माके साथ है और स्वयंका स्वरूप कभी अशान्तिके लिए नहीं होता। सो आत्मस्वरूप है ज्ञानमात्र, वह तो है उपादेय और ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपको छोड़कर बाकी अन्य आत्मा भी ज्ञानस्वरूप हैं तो भी मेरे स्वरूपमें नहीं है, अतएव वे हेय हैं और बाकी जितने भी अचेतन पदार्थ हैं वे पदार्थ सब ज्ञानमात्र तत्त्वसे बहिर्भूत हैं, इस कारण वे भी हेय हैं तो एक आत्मस्वरूप उपादेय रहा और शेष जितने भी बाह्य तत्त्व हैं वे सब इस जीवके लिए हेय निषेध्य अर्थात् अनात्मतत्त्वमें बुद्धि लगानेसे

कल्याण नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूपमें ही लीन होनेसे कल्याण है।

विद्याप्रसूत्यै किल शील्यमाना
भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥ २४ ॥

(८६) गुरूपदिष्ट भावित अविद्याको विद्याजननी माननेकी उपहासास्पदता—

विज्ञानवादी कहते हैं कि विज्ञानमात्र अद्वैत तत्त्वको छोड़कर जितनी भी जो कुछ बुद्धि है वह सब अविद्या है, ऐसा कहनेपर जब उनसे पूछा जाता है कि जब यह जीव अविद्यामें ही रहता है तो यह विद्याको कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उत्तर उनका यह है कि गुरु महाराजने दिया उपदेश, उससे अविद्याका कोई ऐसा परिणाम होता है कि वह अविद्या निश्चयसे विद्याको जन्म देनेमें समर्थ होती है, क्योंकि जो अविद्या उत्तर अविद्याको जन्म देनेका कारणभूत है और यह बात तो अत्यन्त प्रसिद्ध ही है, लेकिन वही अविद्या अविद्याका जन्म न हो इनका भी कारण हो जाता है, सो यह बिल्कुल विपरीत कथन है। क्या कोई ऐसा मान सकता है कि जो मदिरापान बेहोशी करनेके लिए प्रसिद्ध है वही मदिरा-पान मदकी अनुत्पत्तिका भी कारण हो सकता है क्या ? ऐसा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई नहीं मान सकता। सबकी समझमें यह ही है कि मदिरापान मदको जन्म देनेके लिए प्रसिद्ध है तो वही मदिरापान मदकी अनुत्पत्ति करे याने मदका विनाश करे, ऐसा नहीं होता। तो यह सब व्यामोह भरा विडम्बनापूर्ण कथन है, वह स्याद्वादकी शैलीसे अनभिज्ञ पुरुषोंका कथन है। नहीं तो सीधी बात यह है कि आत्मा ही जब आवरण होनेपर अविद्यामय होता है। जीव तो सहजस्वरूपमें विद्यामय है, उसमें अविद्याका रूप नहीं पड़ा है, पर आवरण और कलुषताका कारण यह ही विद्यास्वरूप अविद्याका रूप रख लेता है। सो स्याद्वादमें तो सर्व कथन संगत होता है, पर स्याद्वाद शैलीको छोड़कर एकान्ततः कुछ भी निर्णय करनेमें विडम्बना ही जगती है।

(६०) विषभक्षणमें विषविकारहेतुता व विषनाशकहेतुता की तरह अविद्यामें अविद्याहेतुता अविद्याहेतुताकी सिद्धिकी आरेका व उसका समाधान—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जैसे विषभक्षण विषविकारका कारण है याने कोई विष खा ले तो उस विषका विकार बनेगा। विषका विकार बनेगा, ऐसी प्रसिद्धि होते हुए भी कभी-कभी विषभक्षण विष विकारको उत्पन्न न करे, ऐसा भी देखा जाता है। जहाँ उस विषको सिद्ध कर ले कोई दवाइयोंके प्रयोगसे तो वही विषभक्षण स्वास्थ्यको उत्पन्न कर देता है। जैसे संखिया खानेपर मनुष्य मर जाते है, किन्तु

विधिपूर्वक उस संखियाका प्रयोग बनाये और भस्म आदिक बने तो वही स्वास्थ्यका कारण बन जाता है। इसी तरह कोई अविद्या जब किसी विशिष्ट भावनामें आये तो वह अविद्या अविद्या उत्पन्न न करे, किन्तु विद्याको जन्म दे, इसमें किसी किसी प्रकारका विरोध न होना चाहिए।

(६१) उपरोक्त शंकाका समाधान—

उपरोक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि वे यह विचार करें कि भ्रम, दाह, मूर्छा, बेहोशीको इस विकारको जन्म देने वाला जो जंगम विष है यह तो जन्म बीज है और इन विकारोंको जन्म न देने वाला, बल्कि उन विकारोंको दूर कर देने वाला स्थावर है नहीं, कोई अन्य ही है। स्थावरविष तो मूर्छा आदिक विकार वाले विषका प्रतिपक्षभूत है, इसलिए स्थावरविष किसी प्रकारसे सिद्ध कर देनेपर अमृतकोटिमें आ जाता है और तब ही देखिये कि विषके दो अर्थ किए गए हैं— विष भी है और अमृत भी है। विष सर्वथा विष नहीं कहलाता। विषको सर्वथा विष मान लेनेपर वह अन्य विषयका प्रतिपक्षभूत नहीं बनता। देखा गया कि जैसे कोई मनुष्य विष खा ले और उसे मूर्छा, दाह उत्पन्न हो जाय तो उसे दूसरे प्रकारका विष दिया जाता है सो उससे मूर्छा, दाह समाप्त होता है याने विषके प्रभावको नष्ट करनेके लिए अन्य विष समर्थ होता है, इस कारण विषका उदाहरण देना और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उससे अविद्याको विद्याका जन्मदाता मान लेना बहुत कठिन बात है, युक्तिसंगत नहीं है।

(६२) अविद्याके लिये दत्त विषके उदाहरणमें समानता अभाव—

चेतनविकार व अचेतन विषका उदाहरण समानता का उदाहरण नहीं है। अविद्या तो संसारकी हेतुभूत है। जहाँ अज्ञानछाया है वस्तुस्वरूपके विरुद्ध ज्ञान बनता है वह तो अनादिवासनासे उत्पन्न हुई अविद्या है और वह अविद्याके अनुकूल है ऐसी अविद्या, अविद्याको जन्म देती रहती है और मोक्षके हेतुभूत अविद्या दूसरी है, ऐसे उदाहरणकी समता दिखानी शंकाकारकी सही नहीं बन सकती। हाँ उस उदाहरण में तो यह बात थी कि कोई विष मनुष्यके प्राण हर सकता है, मगर कोई दूसरा विष उस विषके प्रभावको भी नष्ट कर सकता, वहाँ तो यह बात उचित है, परन्तु चेतनमें अविद्याकी ऐसी दुविधा मानना संगत नहीं है कि कोई अविद्या अविद्या को जन्म दे और कोई अविद्या विद्याको, शान्तिको जन्म दे दे, क्योंकि विद्या और अविद्या ये परस्परमें अत्यन्त प्रतिपक्षभूत हैं। कहाँ तो अविद्या अन्धकार और कहाँ विद्या प्रकाश। तो अन्धकारसे कहीं प्रकाशकी उत्पत्ति हो सकती है? यदि कोई ऐसी अविद्या है कि जिससे विद्याकी उत्पत्ति होती है तो वह विद्या ही है, अविद्या नहीं है। यदि उस अनादिकालीन

http://www.jainkosh.org

अविद्याके प्रतिपक्षी होनेके कारण अविद्याको ही कथञ्चित् विद्या कह देंगे तो अब इसमें एकान्त मत तो न रहा, कल्पनावादियोंका मत न रहा, स्याद्वादका मत आ गया मायने वही ज्ञान कभी अविद्या कहलाता था और वही ज्ञान अब विद्या कहलाने लगा।

(६३) विद्या और अविद्याका विवरण—

स्याद्वाद शासनमें केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट विद्या है, उसकी अपेक्षा मतिज्ञानादिक जो क्षायोपशमिक ज्ञान है उनको हल्की विद्या है। तो केवलज्ञानरूप विद्याके सामने मतिज्ञानादिकरूप विद्या अविद्या कहलाती है, यह बात स्याद्वादशासनमें तो संगत बन गई, पर एकान्तवादमें इसकी संगति नहीं बैठती और स्याद्वादशासनकी दूसरी बात देखिये—जो जीवके अनादिकालसे मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शनरूप अविद्या लग रही है उस अविद्याकी अपेक्षा तो मतिज्ञानादिकरूप क्षायोपशमिक ज्ञान विद्या ही कहलायेगी याने विद्या और अविद्याका अर्थ तुलनामें लिया जायगा। केवलज्ञानके सामने मतिज्ञान अविद्या है तो मतिज्ञान विद्याके सामने अनादिकालीन जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र लग रहे हैं वे सब अविद्या हैं। तो विज्ञानाद्वैतवादियोंका यह कहना कि जो अविद्या थी वही गुरु के द्वारा उपदिष्ट होकर विद्याको जन्म देनेमें समर्थ हो जाती, यह बात संगत नहीं और इस तरह यदि अविद्याको विद्याकी

Version 1

जन्मदाता मान लिया जाय तो उपदेष्टा गुरु फिर गुरु नहीं रहता। फिर उसका अर्थ ही क्या है? अविद्या है, उसीका परिणाम बना कुछ और उसने विद्याको जन्म दे दिया। अब विद्याका उपदेष्टा गुरुका क्या महत्त्व रहा? तो इस तरह पुरुषाद्वैतकी तरह ज्ञानाद्वैत तत्त्व भी अनुपाय बन गया मायने उसकी कोई प्रमाणसे सिद्धि नहीं, युक्ति उपायसे सिद्धि नहीं, इसलिए केवल ज्ञानाद्वैत ही तत्त्व है। जगतके अन्य पदार्थ ये सब भ्रममात्र हैं, ऐसा कहना युक्त नहीं है। पदार्थ अनन्त हैं, उनमें कोई चेतन हैं, कोई अचेतन हैं, और जो चेतन हैं वे भी परिणमनशील हैं, उन्हींमें कभी अविद्याकी अवस्था आती है और कभी विद्याकी अवस्था आती है।

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः
सा संवृतिः सर्व विशेषशून्या।
तस्या विशेषौ किल बन्धमोक्षौ
हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥ २५ ॥

(६४) निरन्वय क्षणिक अर्थ व विज्ञानाद्वैतसे बढ़कर शून्याद्वैतके मन्तव्यका प्रयास—

अब शून्याद्वैतवादी कह रहे हैं कि परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो तत्त्व अभावमात्र ही है। इस प्रसंगमें दो मत क्षणिकवादियोंके अभी आये थे—एक सौत्रान्तिक मत और दूसरा सम्वेदनाद्वैतवाद। प्रथम मतने तो यह सिद्ध किया था

कि बाह्य तत्त्व भी हैं, अन्तरंग तत्त्व भी हैं, किन्तु वे सभी तत्त्व निरन्वय है, क्षण क्षणमें उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। उनके किसी पूर्वसे या किसी उत्तरसे कोई सम्बंध नहीं रहता। इस मतमें पदार्थ तो सब तरहके माने गए, मगर क्षणिक निरन्वय अबद्ध माने गए हैं। सो इस मतके निराकरणमें बहुत कुछ वर्णन किया गया। दूसरा मन्तव्य है ज्ञानाद्वैतका। इनके सिद्धान्तसे बाह्य पदार्थ कुछ भी नहीं हैं, न परमाणु हैं, न रूपक्षण आदिक हैं, किन्तु अन्तरङ्ग एक ज्ञानक्षण ही है, जिसका दूसरा नाम चित्त क्षण अथवा कहो जीव। मगर वह जीव ज्ञानमात्र है और क्षण-क्षणमें नया नया होता है, निरंश है, उस ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई तत्त्व नहीं है। इस मंतव्य के निराकरणमें भी बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है। अब तीसरा सिद्धान्त आया है माध्यमिक सिद्धान्त।

(६५) शून्याद्वैतवादका मन्तव्य—

माध्यमिक मतकी मान्यता है कि परमार्थ वृत्तिसे देखा जाय तो शून्य ही तत्त्व है न चित्त क्षण तत्त्व है, न बाह्य पदार्थ तत्त्व है, ऐसे मंतव्यके तो बाह्य और अन्तरंग दोनों तत्त्व माने गए हैं। दूसरे मतमें केवल अन्तरंग तत्त्व ही माना गया था। अब इस तीसरे मतमें न बाह्य तत्त्व माने जा रहे और न अन्तरंग तत्त्व माना जा रहा, किन्तु शून्यमात्र ही तत्त्व माना जा रहा और इस माध्यमिकका कहना है कि परमार्थ-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वृत्तिसे शून्य तत्त्व तो है, मगर वह परमार्थ वृत्ति सम्वृतिरूप है, कल्पनामात्र है या व्यवहारमात्र है। वास्तविक नहीं है, क्योंकि शून्यका सम्वेदन तो हुआ, मगर शून्यका सम्वेदन कल्पनासे ही माना जाय तो शून्य तत्त्व ठहरता है। अगर शून्यका सम्वेदन तात्त्विक हो जाय, परमार्थतः हो जाय तो सर्वथा शून्य तत्त्व नहीं ठहरता, फिर सर्वथा शून्य का निषेध हो जाता है, तो बात प्रारम्भसे यह है कि तत्त्व है शून्य मात्र और वह परमार्थवृत्तिसे है, तथा परमार्थवृत्ति केवल काल्पनिक है और यह कल्पना सर्व विशेषोंसे शून्य है याने जिस कल्पनासे परमार्थतत्त्व समझा गया वह कल्पना समस्त विशेषोंसे रहित है याने पदार्थका सद्भाव जिन-जिन दार्शनिकों ने माना उन-उन दार्शनिकोंने जो-जो तत्त्वविशेष माना है वह कुछ भी नहीं है शून्यवादमें, शून्याद्वैतवादी कह रहे हैं कि वह संवृति याने कल्पना अविद्यात्मक है और समस्त वास्तविक विशेषोंसे रहित है, ऐसी कल्पनामें भी जो बन्ध और मोक्ष होते हैं याने इन विशेषोंकी कल्पना की है वह वास्तविक नहीं किन्तु कल्पनामें है, जिन्हें हेत्वात्मक कहते हैं। तो जब यह जीव यह भी एक कल्पनाका विषय है। जब यह तत्त्व अपना अभिप्राय बनाता है—मैं हूं, आत्मा हूं, इस तरहका जब अभिप्राय बनाता है तो उससे बंध हुआ करता है और जब

http://www.jainkosh.org

मैं कुछ नहीं हूं, शून्य हूं, ऐसी भावनाका अभ्यास करता है तो इसका मोक्ष होता है। तो अब यहां देखिये कि बंधकी जो हेतुरूप भावना कही और मोक्षके हेतुरूप जो भावना कही ये दोनों ही तात्त्विक नहीं हैं, और जब तात्त्विक नहीं हैं तो दोनोंका परस्परमें विरोध भी नहीं है। विरोध तो उनके हुआ करता है कि जो वास्तवमें सद्भूत हैं।

(६६) शून्याद्वैतवादके मन्तव्यकी असंगतता—

उक्त प्रकारसे शून्याद्वैतवादमें भी जो कुछ निरखा जा रहा है वह सब युक्तिसंगत नहीं है। हे प्रभु! आप जिनके नाथ नहीं हैं याने अनेकान्तवादका जिनके आदर नहीं है उनकी ही ऐसी विडम्बनापूर्ण वाणी चलती है और जिनके आप नाथ हैं याने अनेकान्तवाद शासनका जिन्होंने सहारा लिया है वे स्पष्ट समझते हैं कि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे जो सत्‌रूप पदार्थ है वही पदार्थ परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे असत् है, अभावरूप है, न कि जैसे परभावसे असत् है, ऐसे ही स्वभावसे भी असत् हो जाय। ऐसा सर्वथा शून्य तत्त्वसे परमार्थिकपना नहीं प्राप्त हो सकता, इस कारण परमार्थवृत्तिसे अभावमात्र तत्त्व है यह कहना असंगत है।

व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्
विश्वाऽभिलापाऽर्थ विकल्प शून्यम्।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्व पुष्पवत्स्वादसदेव तत्त्वं
प्रबुद्धतत्त्वाद्भगवतः परेषाम् ॥ २६ ॥

(६७) शून्याद्वैतवादमें सामान्य, विशेष, निरपेक्ष सामान्यविशेष सभीकी अमान्यता—

यहाँ तक पृथक्-पृथक् एकान्तवादोंका मन्तव्य बताते हुए उनमें आपत्ति दिखाई गई थी। अब उपसंहाररूप हुए वक्तव्यमें कहा जा रहा है कि हे प्रभो! आपसे भिन्न पुरुषोका जो वक्तव्य है उसमें कोई शिष्य नहीं है और इस कारणसे वे सब आकाशफूलके समान अवस्तु ही हैं। क्योंकि सभी मत वाले इन्हीं दो-तीन बातोंके चक्रमें ही अपनी मंतव्य दिशा खो बैठे हैं। कोई सर्वथा सामान्यभावसे रहित मात्र विशेषको ही तत्त्व मानता है तो कोई सर्वथा विशेषभावसे रहित तत्त्वको ही वास्तविक मानता है, तो कोई परस्पर सापेक्षरूप सामान्यविशेष दोनोंसे रहितको तत्त्व मानता है। तो कोई मानता दोनोंको ही तत्त्व है, मगर निरपेक्षरूपसे मानता है, इसका निष्कर्ष यह निकला कि कोई एकान्तवादी सिर्फ सामान्यको ही तत्त्व कहता है, कोई दार्शनिक मात्र विशेषको ही तत्त्व कहता है तो कोई दार्शनिक सामान्यविशेष दोनोंसे रहितको तत्त्व कहता है तो कोई दार्शनिक परस्पर निरपेक्ष कभी सामान्यको कभी विशेषको तत्त्व कहने लगता है। उसका

यहाँ प्रकरण चल रहा है। शून्याद्वैतका, जो न सामान्य मानते हैं, न विशेष मानते हैं, निरपेक्ष और सापेक्षकी बात अत्यन्त दूर है।

(६८) सामान्यविशेषरहित शून्याद्वैत तत्त्वकी असिद्धि—

जो सामान्यविशेष दोनोंसे रहित कोई शून्य ही तत्त्वहै, ऐसा मानते हैं उनको यह मान्यता किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें वे अर्थ विकल्प कुछ मानते या नहीं मानते? नहीं मानते तो निर्णय क्या और मानते हैं तो शून्य कहाँ रहा? ऐसे ही उस शून्य तत्त्वको शब्दों द्वारा सिद्ध करते हैं या नहीं? अगर नहीं करते हैं तो शून्य भी कैसे समझा जांय और अगर करते तो फिर शून्य रहा कहाँ? तो समस्त शब्दोंसे शून्य है वह तत्त्व और समस्त अर्थ विकल्पोंसे शून्य है वह तत्त्व। तो वह आकाश पुष्पके समान अवस्तु ही कहलायेगी। वास्तविकता यह है कि सामान्य और विशेषका परस्परमें अविनाभाव सम्बंध है, सामान्यके बिना विशेषका अस्तित्व नहीं रह सकता और विशेषके बिना सामान्यका अस्तित्व नहीं बन सकता। जैसे मनुष्य सामान्य और बच्चा, जवान, बूढ़ा आदि विशेष। यदि मनुष्य सामान्य नहीं है तो बच्चा, जवान, बूढ़ा आदि विशेष कहाँ विराजेंगे? और यदि बच्चा, जवान, बूढ़ा आदिक कोई अवस्था ही नहीं है तो ऐसा मनुष्य सामान्य किसने देखा? तो सामान्य रूपका परस्परमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अविनाभाव सम्बन्ध है।

(६६) मात्र विशेषवाद, मात्र सामान्यवाद व द्वयरहित-शून्यवाद तीनोंकी सिद्धिकी असंभवता—

जो भेदवादी बौद्ध सामान्यको नहीं मानते और विशेषको ही मानते याने पदार्थमें परस्पर व्यावृति है, पर समानता नहीं, यह इसमें अलग है, यह इससे अलग है, बस यह ही भर निरखता जाय, पर कोई किसीके समान है यह निरखनेकी गुंजाइश इस भेदवादमें नहीं रखी गई, तो उनके यहाँ वह विशेष पदार्थ भी सिद्ध नहीं हो सकता। जब समानता नहीं है तो विशेष भी सिद्ध न होगा। सामान्यसे विशेष क्या सर्वथा भिन्न है? सर्वथा भिन्न तो है नहीं। तो सामान्य न रहे तो विशेष भी कहाँ रहेगा? फिर तो तत्त्व नीरूप मिलेगा याने उसका कुछ ठिकाना ही नहीं है, कोई मुद्रा ही नहीं रहती। यों तो केवल विशेषको ही मानने वाले भेदवादी बौद्धोंकी गति नहीं है और जो केवल सामान्यको ही मानते हैं, ऐसे अभेदवादी सांख्य, उनके भी सामान्य तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। ये सामान्यवादी कहते हैं कि तत्त्व तो एक सामाण्य प्रकृति है, विशेष कोई तत्त्व ही नहीं है। तो वे ही स्वयं बतलायें कि अहंकार, इन्द्रिय, भौतिक पदार्थ ये सब विशेष कहाँसे आ गए? और खुद इन सांख्य जनोंने इन विशेषोंको माना है तो सामान्यके बिना विशेष नहीं बन

सकता और विशेषके बिना सामान्य नहीं बन सकता। इस-लिए केवल सामान्य मानने वाले भी मिथ्या कहते हैं और केवल विशेष मानने वाले भी मिथ्या कथनी करते हैं, फिर जो इन दोनोंको ही नहीं मानते उन शून्यवादियोंकी तो कहानी ही क्या कहना?

(१००) सामान्यके एकान्तमें सर्व शून्यताकी आपत्ति—

जो एक सामान्यको ही तत्त्व मानते हैं वे अभेद-वादी हैं याने उन्होंने विशेष तो कुछ माना ही नहीं है जिससे कि एक वस्तुसे दूसरी वस्तुमें भेद स्वीकार करते तो ऐसे जो अभेदवादी दार्शनिक हैं वे सामान्यको ही एक प्रधान मानते हैं, और बतलाते हैं कि भले ही महान् अहंकार आदिक विशेष होते हैं, पर उनका पृथक् अस्तित्व नहीं, वे सामान्यके बिना नहीं होते, ये अवक्तव्यके ही व्यक्त रूप हैं। तो इस तरह उस प्रधानमें सामान्यमें समस्त विशेषोंका अभाव माना है। लेकिन उनका यह मंतव्य इस तरह सिद्ध नहीं होता कि यदि समस्त विशेषोंका अभाव माना जाय तो सामान्य तो विशेषका ही अविनाभावी है, जैसे कि महान् अहंकार आदिक विशेष न माने जायें तो प्रधानका क्या अस्तित्व रहा? तो विशेषका अभाव माननेपर सामान्यका अभाव बन बैठता है और जब न विशेष रहा, न सामान्य रहा तो कोई पदार्थ भोग्य रहा ही नहीं तो भोक्ता आत्मा भी नहीं सिद्ध होता। सांख्य सिद्धांतमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भोक्ता तो चेतन है और भोग्य प्रधान है सो जब भोग्यकी ही सिद्धि नहीं है तो भोक्ता कहांसे ठहरेगा ? तो भले ही ये सामान्यवादी न चाहें कि हमारे सामान्यका भी अभाव हो जाय सो न चाहते हुए भी सर्वशून्यकी आपत्ति इन सामान्यवादियोंकी आती है। यदि ये सामान्यवादी यह कहें कि प्रधान के जो दो रूप हैं व्यक्तरूप और अव्यक्तरूप इनमें कथञ्चित् भेद है, तो ऐसा माननेपर स्याद्वाद न्यायका ही अनुसरण हुआ और फिर केवल सामान्यमात्र ही तत्त्व है यह वचन उनका असंगत हो गया। तो इस प्रकार हे वीर जिनेन्द्र ! आपके शासनसे बहिर्भूत होकर दार्शनिक अपना ही अस्तित्व खो देते हैं।

(१०१) सामान्यैकान्त व विशेषैकान्तके असंगत होनेकी तरह निरपेक्षोभयैकान्त व अनुभयैकान्तकी असंगतता—

जैसे न केवल विशेष तत्त्व रहा और न केवल सामान्य तत्त्व रहा, इसी प्रकार निरपेक्ष सामान्य विशेष भी तत्त्व नहीं है। हैं ऐसे दार्शनिक जो कुछको सामान्य और कुछ को विशेष मानते हैं, पर एक ही वस्तुमें सापेक्ष सामान्य विशेष नहीं मानते हैं। जैसे परमाणु दो प्रकारके माने हैं— (१) कारण परमाणु और (२) कार्यपरमाणु और इनको भिन्न-भिन्न मानते हैं तो ऐसे ही सामान्य अणु, विशेष अणु। ऐसे भिन्न-भिन्न मानते हैं। उनकी परस्परमें कोई अपेक्षा नहीं

है, लेकिन यह मन्तव्य भी सही नहीं है। लो, इन्होंने जो सामान्यविशेष दोनोंका उल्लंघन कर दिया। किसी भी एक वस्तुको सामान्यविशेषात्मक नहीं माना यों हो जो सामान्य-विशेषरहित शून्य तत्त्व मानें वे भी जिनशासनसे बहिर्भूत हैं और उनका भी वह तत्त्व शब्द और अर्थ विकल्पसे शून्य है. निरपेक्ष सामान्यविशेष तथा सामान्यविशेषरहित तत्त्व ही जब कुछ नहीं तो इसका वाचक शब्द कहांसे आये ? और अर्थ ही जब कुछ नहीं तो इसका जाननहार विकल्प भी कहांसे बने ? तो निरपेक्ष सामान्यविशेषवाद तथा अनुभववादमें आकाश-पुष्पकी तरह अवस्तु ठहरती है। तो जैसे शून्यवादका तत्त्व अवस्तु है। केवल सामान्यवाद अवस्तु है केवल विशेषवाद अवस्तु है, उस ही प्रकार निरपेक्ष सामान्यविशेषवादियोंका तत्त्व भी अवस्तु है।

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपाया-
द्गतिर्भवेत्तौ वचनीय-गम्यौ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं
वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥ २७ ॥

(१०२) शून्यवाद व सत्स्वभावैकान्तमें बन्ध और मोक्ष का परिचय करानेका प्रस्तावित प्रयास—

यहाँ शून्यवादी जैसा कि कहते हैं कि तत्त्व तो शून्याद्वैतवाद ही है, फिर भी बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उपायसे बनती है, कल्पनाबुद्धिसे बंध और मोक्ष दोनों ही जाने जाते हैं, क्योंकि दोनोंके वचन हैं और दोनोंका विकल्प है। वैसे ही शून्य स्वभावके अभावरूप सत् स्वभाव तत्त्वको मानने वाले भी यही कहते हैं कि बंध और मोक्ष दोनोंके उपायसे जानकारी होती है। जब परार्थरूप वचन, बंध और मोक्षकी जानकारीका उपाय बनता है तब बंध और मोक्ष दोनों वचनीय हो जाते हैं याने वचन द्वारा बंध और मोक्ष दोनोंकी जानकारी होती है। और जिस समय स्वार्थरूप बंध और मोक्षकी जानकारीका उपाय बनता है याने प्रत्यक्षसे जानकारी या अनुमानसे जानकारीका उपाय बनता है तो बंध और मोक्ष ये दोनों गम्य होते हैं याने ज्ञानमें आते हैं और इसी प्रकार बंध और मोक्ष दोनों सम्बंधी हैं याने परस्पर इनमें इनका अविनाभाव है। बंधके बिना मोक्षकी जानकारी नहीं और मोक्षके बिना बंधकी जानकारी नहीं। बंधके बिना मोक्ष की जानकारी नहीं, यह तो इस प्रकार है कि चूंकि मोक्ष बंध पूर्वक होता है। तो जहाँ बंध ही नहीं वहाँ मोक्षकी व्यवस्था क्या होगी? जो बँधा हो वही छुटकारा पाता है ऐसा न्याय है तथा जब यह कहा जाय कि मोक्षके बिना बन्धकी जानकारी नहीं है तो उसका यह अर्थ समझना कि जहाँ मोक्षका अभाव है और बंधको माना जा रहा है तो जो पहलेसे अबद्ध है और उसका पीछेसे बंध मानना पड़ेगा अथवा इस तरहसे

http://www.jainkosh.org

बंध सदा रहने वाला बन जायगा। दूसरी बात यहाँ यह देखिये कि जैसे प्रतिसमय किसी विशिष्ट नवीन कर्मका बंध हो रहा है तो यह तो सिद्ध ही है कि उस नवीनका बंध पहले नहीं है तब ही तो बंध हो रहा है। तो जिसका वह बंध नहीं है उसको यह ही तो कहा जायगा कि अबंधपूर्वक बंध है याने बँधा न था अब बँध गया है। तो जो पहले न बँधा था इस स्थितिको एक देश मोक्षरूप समझना चाहिए और इस तरहसे यह सिद्ध हो गया कि बंध मोक्षके साथ अविनाभावी है।

(१०३) शून्यवाद व सत्स्वभावैकान्तकी असंगतता तथा दोनों एकान्तवादमें बन्ध व मोक्षके परिचयकी असंगतता—

उक्त शङ्काकारकी शङ्का और प्रस्ताव यों सही नहीं है कि जिस प्रकार शङ्काकारने अपना मंतव्य रखा उस तरह तो सत्स्वभाव रूप तत्त्व दिखाई नहीं देता। सर्वथा क्षणिककी मान्यता और सर्वथा नित्यकी मान्यता दोनों परस्पर विरोधको लिए हुए हैं याने जैसे सर्वथा क्षणिकमें नित्यपनेकी गुंजाइश नहीं, ऐसे ही सर्वथा नित्यमें क्षणिकपनेकी गुंजाइश नहीं। तो दोनों ही जगह बंध मोक्षकी व्यवस्था नहीं बनती। सर्वथा क्षणिक होनेपर एक ही चित्तक्षणके बंध और मोक्ष दोनों सिद्ध नहीं किए जा सकते, ऐसे ही जो नित्य अपरिणामी है, सिर्फ सत् स्वभावको ही रख रहा है वहाँ भी बंध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बनती। निष्कर्ष यह है कि द्रव्य-

Version 1

दृष्टिसे नित्य माने बिना और पर्यायदृष्टिसे अनित्य माने बिना सत्त्वकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। और कोई परस्पर निरपेक्ष किसी वस्तुको क्षणिक मान ले। किसी वस्तुको अपरिणामी मान ले तो वहाँ भले ही बात तो अलग-अलग दोनों मानी गई, लेकिन सदोष हैं। जो सद्भूत तत्त्व है वह सर्वथा एकान्तात्मक है ही नहीं, क्योंकि सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य वस्तुकी किसी भी प्रमाणसे उपलब्धि नहीं होती।

(१०४) स्वपक्षकी सिद्धि न कर सकनेपर ही परपक्षके दूषण बताकर स्वपक्षको सिद्ध करनेकी धांधलेबाजी—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि नित्य अपरिणामी सत्त्वकी प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे भले ही सिद्धि न हो, लेकिन उसकी सिद्धि इस प्रकार हो सकती है कि जो सर्वथा नित्य नहीं मानते अथवा सर्वथा क्षणिक मानते हैं उस पक्षमें दूषण बहुत आते हैं। तो परपक्षमें दूषण आते हैं, इस कारणसे स्वपक्ष सिद्ध हो जायगा। इस शंकाका समाधान यह है कि भले ही वचनसे कुछ भी सफाई दी जाय, मगर कोई भी यह बतलावे कि परपक्षके दूषणसे ही वस्तुकी सिद्धि है या वस्तुमें ही कोई गुण और सत्त्व है इससे सिद्धि है? जो यथार्थमें वाच्य होता है याने वस्तुभूत पदार्थ है वह परके दूषण रूपसे सिद्ध नहीं होता, किन्तु स्वके गुण रूपसे ही सिद्ध होता है, और फिर जिसको एक पक्ष वाला दूसरे पक्षके दूषणसे अपनी

सिद्धि करता है तो उसके मायने यह हैं कि उसके पक्षमें पदार्थमें स्वयं कोई जान नहीं है, इसलिए वह दूषणाभास है। वास्तवमें परपक्षका दूषण तक भी नहीं है। जो दूषण परपक्षका निषेध करनेकी तरह, स्वपक्षका भी निषेध कर बैठे तो उनका मंतव्य अथवा माना गया तत्त्व कभी सिद्ध नहीं हो सकता।

(१०५) अनेकान्तात्मक पदार्थकी स्याद्वादशासनसे सिद्धि किये बिना अर्थक्रियाकी सिद्धिकी असंभवता—

सर्वथा क्षणिक है अथवा पदार्थ सर्वथा अपरिणामी है, ये दोनों ही मन्तव्य परस्पर विरुद्ध है और दोनोंमें ही अनेकान्त न हो याने द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है, पर्यायदृष्टिसे पदार्थ अनित्य है, इस प्रकार दोनों ही तत्त्व स्वीकार न किए जायें तो वहाँ क्रम और अक्रम कुछ नहीं रहते। अक्रम तो गुण कहलाता और क्रम पर्याय कहलाता है। किसी भी पदार्थमें यदि शक्ति नहीं है और आस्था नहीं है तो उसमें कोई परिणमन हो ही नहीं सकता, उसका कोई प्रयोग हो ही नहीं सकता। और जब किसी वस्तुका कुछ प्रयोग ही सम्भव नहीं, उसकी अर्थक्रिया ही संभव नहीं तो वह तत्त्व ही क्या रहा? वस्तु ही कुछ न रही। जो भी पदार्थ है उसका अर्थक्रियासे सम्बंध है, मगर अर्थक्रिया हो रही है, प्रवृत्ति होती है उसका प्रयोग बनता है तब तो वह वस्तु है और जहाँ अर्थक्रिया नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है वह वस्तु नहीं है। तो जैसे क्षणिकवादमें कोई व्यवस्था नहीं रहती है। इसी प्रकार एकान्ततः नित्यवादमें भी कोई व्यवस्था नहीं रह सकती है।

उपेयतत्त्वानभिलाप्यतावद्,
उपायतत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात्।
अशेषतत्त्वाऽनभिलाप्यतायां,
द्विषां भवयुक्त्यभिलाप्यतायाः॥ २८॥

(१०६) अवाच्यतैकान्तमें उपेयतत्त्वकी अवाच्यताकी तरह उपायतत्त्वकी भी अवाच्या होनेसे तीर्थप्रवृत्तिके लोपका प्रसंग—

जो लोग ऐसी मान्यता रखते हैं कि सम्पूर्ण तत्त्व अवाच्य है याने वचनों द्वारा गोचर नहीं है, तो तत्त्व तो है उपेय और तत्त्वको बताया है अवाच्य, तो जब तत्त्व ही अवाच्य रहा तो उसको बतानेका जो उपाय तत्त्व है वह भी अवाच्य बन गया। तो जैसे जो उपेय तत्त्व है मोक्ष, उसका कथन सर्वथा किया ही नहीं जा सकता तो उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्तिका उपाय, इसका भी कथन सर्वथा नहीं किया जा सकता, क्योंकि तत्त्व तो दोनों ही हैं—एक उपेय तत्त्व है, दूसरा उपाय तत्त्व है। तो जो लोग तत्त्वको सर्वथा अवाच्य मानते हैं उन्हें तो मौन बैठना चाहिए। किसी तत्त्वकी सिद्धि के प्रयासमें वे क्यों आते हैं? निष्कर्ष यह है कि जो लोग

स्याद्वादसे बहिर्भूत हैं उनके यहाँ न उपेय तत्त्वकी सिद्धि बनती है और न उपाय तत्त्वकी सिद्धि बनती है याने न उनके मोक्ष है, न उनके मोक्षमार्ग बन सकता है। किस उपायसे मोक्षका प्रयास करें वह उपाय सर्वथा एकान्तवादमें हो ही नहीं सकता, क्योंकि सर्वथा एकान्तवादमें मोक्ष ही नहीं है। तो उसका उपाय करनेकी आवश्यकता ही क्या पड़ी? और फिर सर्वथा एकान्तवादमें माना हुआ तत्त्व अवस्तु है तो अवस्तुकी अवस्तुता छिपानेके लिए अवाच्य करार कर दिया है कि तत्त्व सभी अवाच्य हैं याने वचनोंके गोचर नहीं हैं, तो ऐसे अवाच्यवादी दार्शनिकोंके यहाँ न कोई उपेय तत्त्व रहा और न कोई उपाय तत्त्व रहा।

(१०७) स्याद्वादशासनमें बन्धकी, मोक्षकी व मोक्षोपाय की व्यवस्था—

अब स्याद्वादशासनके अनुसार विचार करें तो वहाँ बंधकी और मोक्षकी और मोक्षके उपायकी सब व्यवस्था युक्तिसंगत बनती है। जितना जो कुछ भी वस्तु तत्त्व है वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा सत्रूप ही है और परपदार्थके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा असत् रूप ही है। तो बंध मोक्षके प्रसंगमें पुरुष और प्रकृतिकी बात निहारी जाती हैं याने आत्मा और कर्म, इन दोनोंका विवरण देखा जाता है। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, कर्मके

Version 1

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। इसी प्रकार कर्म भी अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, वह आत्माके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। इस कारणसे कर्म जीवको परिणति नहीं करता, जीव कर्मकी परिणति नहीं करता, किन्तु जीव सत् है और कर्म भी सत् है, तो सत्त्वके नातेसे अपने आपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्यका स्वभाव रख रहे हैं सो स्वयं द्रव्यत्वके नाते निरन्तर परिणमन किया करते हैं। अब विकार परिणमन जहाँ भी होता है वहाँ यह आवश्यक है कि कोई उपाधि उसके साथ लगी हुई होती है। यद्यपि उपाधि दूसरे पदार्थका परिणमन नहीं कराती, किन्तु परिणमने वाले पदार्थमें कला ऐसी है कि वह उपाधिके सान्निध्यमें अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणम जाता है, और यही वैभाविकी शक्तिका अर्थ है; जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य—इन दोनों द्रव्योंमें वैभाविकी शक्ति है सो उस शक्तिका यह कार्य है कि उपाधि सान्निध्य मिले तो पदार्थको विकाररूप परिणमा दे और उपाधिसान्निध्य नहीं है अर्थात् द्रव्य जब अपनी शुद्ध अवस्थामें है तो वहाँ विकार परिणमन नहीं हुआ करते।

(१०८) जीवका कर्मोदयके सन्निधानमें विकाररूप परिणम कर विशुद्ध भावनाके सान्निध्यमें नष्ट हो जाना—

तो जीव कर्मोदयके सन्निधानमें विकाररूप परिणमता है और जीवकी विशुद्ध भावनाके सान्निध्यमें कर्ममें

कर्मरस क्षीण हो जाता है, ऐसा दोनों ओर काम होता रहता है। तो जब आत्माकी विशुद्ध भावनाका बल जगता है तो कर्ममें कर्मकी शक्ति क्षीण होती है और उस कालमें जीवके विकारभावोंके जगनेका अवसर होता है, फिर तो जीवके विशुद्ध भाव बढ़ते चले जाते हैं और कर्मके अनुभाग क्षीण होते चले जाते हैं, अन्तमें कर्म पूर्णतया क्षीण हो जाते हैं और यह आत्मा मुक्त हो जाता है। तो जब जीव और कर्म कथञ्चित् नित्य और अनित्य हैं तो ऐसे बंध मोक्षकी व्यवस्था बनती है। जहाँ पुरुष अथवा प्रधान कोई भी तत्त्व सर्वथा नित्य माना जाय, उसमें परिणमन हो नहीं होता, ऐसा कूटस्थ अपरिणामी माना जाय तो वहाँ बंध और मोक्षकी व्यवस्था कैसे बन सकती? इस तरह पदार्थ न तो सर्वथा क्षणिक है और न सर्वथा नित्य है, किन्तु पदार्थ है सो उसका तभी हैपना सम्भव है जब कि प्रतिसमय अपनी नवीन-नवीन अवस्थाओंको तो बनावे और वह स्वयं सदाकाल रहे, इसीको कहते हैं वह प्रतिसमय बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। तो पदार्थका स्वरूप नित्यानित्यात्मक है और बना रहता है। तो पदार्थका स्वरूप नित्यानित्यात्मक है और ऐसा हो प्रतीत होनेपर जीवको मोक्षमार्ग मिलता है। सर्वथा नित्यमें कुछ परिणमन हो नहीं तो बन्धसे हटकर कोई पदार्थ मोक्षदशाको कैसे पाये और क्षणिकवादमें कोई एक चित्त दूसरे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

क्षण ही नहीं रहता, तो जिसको बंध हुआ है उसको मोक्ष हो यह व्यवस्था कैसे बन सकती है ? इस प्रकार स्याद्वादशासनसे सम्मत तत्त्व ही वास्तविक है और वह वीरशासनसे प्रकट हुआ है, इस कारण हे वीर जिनेन्द्र ! जो आपके शासनसे बहिर्भूत है उनके किसी मंतव्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

अवाच्यमित्यत्र च वाच्य-
भावादवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि स्व-
रूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥ २९ ॥

(१०९) 'समस्त तत्त्व अवाच्य है' इस कथनमें प्रतिज्ञा-विरोध व स्ववचनविरोध—

समस्त तत्त्व सर्वथा अवाच्य हैं याने वचनोंके द्वारा कहे नहीं जा सकते। ऐसी एकान्त मान्यता होनेपर यह बताओ कि तत्त्व अवाच्य ही है यह कैसे कह दिया गया ? यदि सर्वथा अवाच्य होता तो अवाच्य शब्दसे भी न कहा जा सकता था। तो जो लोग तत्त्वको सर्वथा अवाच्य कहते हैं उनका कहना उनकी प्रतिज्ञाके विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि अवाच्य इस पदमें भी कोई वाच्य अवश्य है याने अवाच्य शब्द बोलकर कुछ बात समझी गई या नहीं। समझी गई तो लो अवाच्य शब्द भी वाचक बन गया। यह किसी न किसी बातको तो बतलाता है। तब तत्त्व सर्वथा अवाच्य न रहा।

http://www.jainkosh.org

यहाँ शङ्काकार यदि यह कहे कि तत्त्व स्वरूपसे अवाच्य ही है याने उसका जो निजी स्वरूप है वह वचनके अगोचर है तो ऐसा कहने वाले शंकाकारके सिद्धान्तमें कहा गया है कि सर्व वचन स्वरूपवाची हैं। तो यह कथन फिर उनका वर्तमान प्रतिज्ञाके विरुद्ध पड़ जाता है। सिद्धान्तमें तो बताया कि स्व-रूप नहीं है वचन और यहाँ कह रहे हो कि तत्त्व स्वरूपसे अवाच्य ही है। और यदि शङ्काकार यह कहे कि तत्त्व पर रूपसे अवाच्य ही है। और यदि शङ्काकार यह कहे कि तत्त्व पररूपसे अवाच्य ही है याने किसी भी ढंगसे हम परतत्त्वकी अपेक्षासे उसमें कुछ बोल नहीं सकते तो यह कथन भी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है, क्योंकि इसी शङ्काकारने यह भी कहा है कि सर्ववचन पररूपवाची हैं। इस कारिकामें सर्वथा अवाच्यकी मान्यताका निराकरण किया है।

(११०) एकान्तवादोंके निराकरणका निर्देशन—

यहाँ तक इन तथ्योंपर प्रकाश डाला गया कि तत्त्व भावमात्र ही नहीं हैं याने सर्व कुछ सद्रूप ही है, कुछ भी शब्द बोलनेसे सभी अर्थोंका ग्रहण हो जाता है। ऐसा भाव-मात्र तत्त्व नहीं है, इसी तरह तत्त्व अभावमात्र ही नहीं है याने स्वरूप कुछ है नहीं, शून्य है, और किसी तरह उसमें शक्ति पर्याय ध्रुवता कुछ भी नहीं है। सर्व भ्रम ही भ्रम है, ऐसा अभाव मात्र ही तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार उभयस्वरूप

Version 1

तत्त्व नहीं याने निरपेक्ष रूप कुछ भावस्वरूप हों, कुछ अभाव स्वरूप हो ऐसा भी तत्त्व नहीं है। जैसे मीमांसक सिद्धान्तमें ७ पदार्थ माने हैं जिनमें ६ तो भावात्मक हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और एक अभावरूप है, जिसका नाम अभाव रखा गया है। तो ऐसा भाव और अभावरूप भी निरपेक्ष नहीं है। इसी प्रकार तत्त्व सर्वथा अवाच्य नहीं है कि वह वचनों द्वारा भी न बोला जा सके। तो यहाँ तक इन चारों मिथ्या एकान्तोंका निराकरण किया गया, और इसी निराकरणके सामर्थ्यसे और भी जो मिथ्या प्रवाद हैं उनका भी निराकरण हो जाता है। जैसे कोई मानता है कि सर्वथा सत् अवाच्य तत्त्व है याने सत्ता है और अवाच्य है। तो कोई मानता है कि सर्वथा असत् अवाच्य तत्त्व है मायने शून्य रूप है और अवाच्य है। तो कोई कहता है कि उभय अवाच्य है याने सत्‌रूप भी है, असत्‌रूप भी है। किन्तु है अवाच्य। तो कोई कहता है कि अनुभय अवाच्य है याने न सत्‌रूप है, न असत्‌रूप है, और अवाच्य है। तो इस तरह के अनेक मिथ्या प्रवादोंका यहाँ निराकरण समझना चाहिए।

सत्याऽनृतंवाऽप्यनृताऽनृतं
वाऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन।
युक्तं प्रतिद्वन्द्यनुबन्धि-मिश्रं न
वस्तु तादृक् त्वहते जिनेदृक् ॥ ३० ॥

(१११) सत्यानृत, अनृतानृत जैसे वचनोंको एकान्तवाद में असिद्धि—

कोई दार्शनिक ऐसा कहते हैं कि कोई वचन सत्यानृत ही है अर्थात् सत्य होकर भी असत्य है। सत्य मायने सच और अनृत मायने झूठ। तो उनका कहना है कि कोई वचन सत्यानृत ही है, जो कि अपने प्रतिद्वन्दीसे मिश्र है। यहाँ सत्यका प्रतिद्वन्दी अनृत है। तो ये परस्पर मिले हुए हैं। जैसे किसीने कहा कि शाखापर चन्द्रमाको देखो, तो उसका कथन कुछ सत्य है, कुछ असत्य है। चन्द्रमाको देखो इतना कहना तो सत्य है। चंद्रमा है और उसको देखनेकी बात कही जा रही है, किन्तु शाखापर देखो, यह बात असत्य है, क्योंकि चंद्रमा क्या शाखापर रखा है? भले ही इसमें यह प्रयोजन है कि जो शाखाके निकट नजर आता है, इसलिए शाखापर कह दिया जाता, पर वस्तुतः शाखापर चंद्रमा नहीं है, इस कारण यह असत्य हो गया। और चन्द्रमाको देखनेकी बात कहना यह बात सत्य है। तो यों कोई वचन सत्यानृत है, उसी वचनमें कुछ हिस्सा सत्य है, कुछ हिस्सा असत्य है, इस तरह वह प्रतिद्वंदीसे मिला हुआ है, इसी प्रकार कोई वचन होता है अनृतानृत। अनृत मायने झूठ और दूसरे अनृत का भी अर्थ है झूठ, किंतु यह अनुबंधीसे मिश्र है। जैसे किसी ने कहा कि पर्वतपर चंद्रयुगल देखो, तो इन वचनोंमें दोनों ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बात झूठ हैं। चंद्रयुगल है नहीं। चंद्रमा तो एक है, दो हैं नहीं तो चन्द्रयुगल देखो, यह कथन असत्य है और पर्वतपर देखो—यह कथन भी असत्य है। तो ये दोनों ही असत्य होकर दोनोंसे मिले हुए हैं याने असत्य असत्य दोनों बातें एक वचनमें मिली हुई हैं। तो जैसे उदाहरणमें ये दो प्रकारके वचन कहे हैं वे स्याद्वादकी शरण लिये बिना क्या युक्त हो सकते हैं ?

(११२) स्याद्वादका शरण लिये बिना वचनव्यवहारकी असंगतता—

स्याद्वादशासनको छोड़ देनेके कारण सर्वथा एकांत में जितनी बात कही जाती है भले ही उनमें कोई अंश सत्य है, पर एकान्त होनेसे वह दूसरे झूठके साथ मिश्र है। और कहीं तो पूरा वचन ही असत्य शब्दोंसे, वाच्योंसे भरा हुआ है। उनमें भले ही कुछ कम असत्य, कुछ एकदम असत्य ऐसा भेद भले ही पड़ा आये, मगर स्याद्वादके बिना प्रवर्तमान जो वचन हैं वे युक्त नहीं हो पाते। कोई कहे कि जब सत्यानृत कहा तो वह तो अनेकान्तका धर्म हो गया, क्योंकि सत्य भी कहा, अनृत भी कहा तो यों अनेकान्त शासन नहीं बनता। भले ही अनेक बातें नजर आ रही हैं, पर उनमें वास्तविक एकान्तता नहीं है जहाँ स्याद्वाद नहीं है, दृष्टि और अपेक्षाकी बुद्धि नहीं है वहाँ तो वह सर्वथा एकान्त है और सर्वथा एकांत

http://www.jainkosh.org

अवस्तु होता है, क्योंकि जो भी सत् है, जो भी वस्तु है वह अनन्त धर्मात्मक ही होती है।

> सहक्रमाद्वा विषयाऽल्पभूरि-
> भेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात्।
> आत्मान्तरं स्याद्भि दुरं समं च
> स्याच्चाऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥ ३१ ॥

(११३) भेदि अभेदि अनृत वचनके अनभिलाप्यत्वके प्रसंगमें सप्तभंगीका दर्शन—

अनृत वचन विषयोंकी अल्पता और अनल्पताके भेदसे भेदरूप होते हैं। जैसे जिस वचनमें अभिधेय तो थोड़ा झूठ है और सत्य अधिक है उस वचनको सत्यानृत कहते हैं। सत्य अधिक असत्य थोड़ा उसे कहते हैं सत्यानृत और इसीलिए सत्य शब्द पहले रखा है कि उसका अंश वचनमें अधिक है। तब इस सत्य विशेषणसे अनृतको भेदवान् वर्णित किया जाता है, इसी प्रकार दूसरा उदाहरण लीजिए—अनृतानृत वचन। अनृतानृतमें दोनों ही अनृत हैं, फिर भी जिस वचनमें वाच्य थोड़ा सत्य हो और अधिक असत्य हो उसे अनृतानृत कहते हैं अथवा जल्दी समझनेके लिए उसे अनृत सत्य कह लीजिए कि अनृत तो अधिक है और सत्य कम है। तो अनृतानृत वचनमें जो अनृत विशेषण दिया गया है उस ही विशेषणसे दूसरे अनृतको भेदवान् प्रतिपादित किया गया है याने

Version 1

हैं दोनों झूठ, पर झूठस्वरूपसे झूठका भेद नहीं निकलता, किन्तु झूठका जो आत्मविशेष लक्षण है अर्थात् घटना उसका विशेष वर्णन वह भेदस्वभावको लिए हुए है याने विशेषणके भेदसे झूठका भेद जाना जाता है और वही झूठ जब विशेषण भेदका अभाव रहे याने उसमें विशेषताका ध्यान न दिया जाय, तो वही अभेदस्वभावको लिए हुए है, और इसी तरह अनृत स्वभावको लिए हुए है वहाँ भेद भी है, अभेद भी है और इसके अतिरिक्त अनृत वचन अनृतस्वरूप अवक्तव्य हैं, किसी वचनके द्वारा कहा जा सकने योग्य नहीं है, क्योंकि वह भेदस्वरूप है, अभेदस्वरूप है, दोनों धर्मोंको एक साथ कहा नहीं जा सकता। तो यह अवाच्य तत्त्वके प्रकरणके प्रसंगमें चर्चा चली है जो यह बतलाया था कि अवाच्य है सो सर्वथा अवाच्य नहीं है। वह भेदरूपसे वाच्य है, अभेदरूपसे वाच्य है, पर साथ ही साथ भेदरूप अवक्तव्य भी है, अभेदरूप अवक्तव्य भी है और भेदाभेदी अवक्तव्य भी है। तो उस अवाच्य तत्त्वमें भी सप्तभंगीका प्रयोग चल रहा है। इस प्रकार जो दार्शनिक तत्त्वको सर्वथा अवाच्य कहते हैं उनका यह प्रयोग युक्तिसंगत नहीं है। तत्त्व कथञ्चित् वाच्य है और कथञ्चित् अवाच्य है।

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक-
मात्मान्तरं सर्व-निषेध-गम्यम्।

दृष्टं विमिश्रं तदुपाधि-भेदात्
स्वप्नेऽपिनैतत्त्वदृषेः परेषाम् ॥ ३२ ॥

(११४) सर्वथा सद्रूप व सर्वथा असद्रूप तत्त्वकी असिद्धि—

अब तक जो कुछ भी वर्णन किया गया है उन समस्त मंतव्योंके दो प्रकार बन गए—कोई सद्रूप तत्त्व है, कोई असद्रूप है, पर इसका ही एकान्त कर लेनेपर ऐसे दो दर्शन बिल्कुल भिन्न निकल बैठते हैं। सन्मात्र ही तत्त्व है, ऐसा बोलने वाले सत्ताद्वैतको सिद्ध करना चाहते। इसके मत से जो कुछ भी शब्द बोला जाय वह सर्वथा वाचक है। यों कहो कि जितने भी शब्द हैं वे सभी शब्द सभी शब्दोंके पर्याय-वाची हैं। ऐसा न माननेपर उनका सत्ताद्वैत तत्त्व नहीं ठहर सकता। तो कुछ दार्शनिक सत्ताद्वैतको ही तत्त्व मानते हैं और कोई दार्शनिक सर्वथा अभावरूप ही तत्त्व मानते हैं याने शून्य-वाद, किन्तु ये दोनों ही मान्यतायें असत्य हैं, क्योंकि कोई भी सत् हो उसमें किसी दृष्टिसे सत्त्व है तो किसी दृष्टिसे असत्त्व है। निरपेक्ष सत्त्व और असत्त्व कहीं भी न मिल सकेंगे याने सत् ही सत् हो उनमें किसी भी अपेक्षासे असत्त्व होता ही न हो, ऐसा कोई तत्त्व न मिलेगा या सर्वथा अभाव ही अभाव हो और उसमें किसी भी अपेक्षासे सत्त्व न मिले, ऐसी भी कोई वस्तु नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

(११५) सर्वथा सद्रूप व असद्रूप तत्त्वकी सिद्धिका उदाहरण—

जैसे उदाहरण लें—एक चीजकी परीक्षा कर रहे, जैसे घड़ीको ही घटना प्रसंगमें लें तो इस घड़ीको अगर यह कहा जाय कि यह सर्वथा सत् है याने सर्वरूप सत् है मायने यह चीज घड़ी भी है, बेन्च भी है, बर्तन भी है, पानी भी है, आग भी है, सर्वरूप हो गई तो घड़ी ही क्या रही ? उसकी सत्ता तो तब है जब घड़ीके अतिरिक्त जितने अन्य पदार्थ हैं उन सब अन्य पदार्थोंका उसमें अभाव हो। तो ऐसे ही सिर्फ सत्व सत्त्व हो माना जाय तो वस्तुका स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकता। इसी तरह वस्तुको मात्र अभावरूप ही माना जाय। जैसे इस ही घडीके बारेमें यों कल्पनासे तत्त्व देखना कि वह कपड़ा नहीं है, बेन्च नहीं है, भींत नहीं है, ऐसे अनन्त पदार्थों का नाम लेते जाइये—यह नहीं है, यह नहीं है। तो इन अनन्त पदार्थोंका निषेध बताते क्या स्वरूप समझमें आयगा ? घड़ी स्वयं अपने स्वरूपसे सत् है, यह बात समझे बिना केवल अभाव अभावके कथनसे हम उसका परिचय न कर सकेंगे। तो किसी भी वस्तुमें निरपेक्ष सत्त्व या निरपेक्ष असत्त्व नहीं होता।

(११६) सत् असत् अवाच्यमें सप्तभंगी—

जैसे कोई विशिष्ट वस्तु न केवल सर्वथा सत्रूप

http://www.jainkosh.org

ही है, न केवल असत्रूप ही है सर्वथा इसी तरह सत् असत् एक अनेक आदिक सर्व धर्मोंका जहाँ निषेध है, ऐसा कोई परम ब्रह्म यों कहने वाले दार्शनिकोंका तत्त्व भी नहीं दृष्टिमें आ सकता है याने सर्व विशेषोंसे रहित कोई सामान्य ब्रह्म है यह बात हो नहीं सकती। हाँ सर्वथा सत्त्व और सर्वथा असत्त्व इनसे भिन्न परस्पर सापेक्षरूप तत्त्व जरूर देखा जाता है और ऐसा परिचय उपाधिके भेदसे हुआ करता है। वस्तु अपने द्रव्य से, क्षेत्रसे, कालसे भावरूप है और परके द्रव्यसे, क्षेत्रसे, काल से, भावसे नहीं है। तो नास्तित्वमें परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये विशेषण बने और अस्तित्वमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ये विशेषण बने, इससे क्या सिद्ध हुआ कि समस्त तत्त्व जो भी हों वे अपने स्वरूप चतुष्टयकी अपेक्षा सत्रूप ही हैं और वही तत्त्व परचतुष्टयकी अपेक्षा असत्रूप ही है। इस तरह स्वरूप-दृष्टि करनेसे सत् नजर आया तो पररूप दृष्टिमें लेनेसे वही तत्त्व असत्रूपमें नजरमें आया, और इन दोनों दृष्टियोंको क्रम से रखनेपर या एकको प्रतीतिमें लिया, एकको कह रहे अथवा क्रमसे दोनोंको कह रहे तो कहेंगे कि वह तत्त्व तो असत्रूप है वही तत्त्व एक साथ दोनों धर्मोंसे युक्त नहीं कहा जा सकता। हैं यद्यपि उसमें दोनों ही धर्म और एक साथ है। कहीं ऐसा नहीं है कि जिस क्षणमें वस्तुस्वरूपसे सत् है उस क्षणमें वस्तु पररूपसे असत् नहीं है या जिस समयमें वस्तु पररूपसे असत्

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है उस समय जो वस्तुस्वरूपसे सत् नहीं है, ऐसा नहीं है तो भी उन दोनों धर्मोंको एक साथ नहीं कहा जा सकता, इस कारणसे अवाच्य ही है तो इस दृष्टिसे वस्तु सत् अवाच्य है, ऐसी यहाँ चार दृष्टियाँ नजरमें आयीं, जिनमें तीन दृष्टियाँ तो स्वतंत्र हैं—सत्‌रूप, असत्‌रूप और अवाच्यरूप, इन तीन स्वतन्त्र भंगोंको किसी एकके साथ जोड़नेसे तीन भंग और होते हैं, जैसे सत्, असत्, सदसत्, सत् अवाच्य, असत् अवाच्य और तीनों ही दृष्टियाँ रखनेसे एक भङ्ग और होता है—जिसे कहेंगे—सत् असत् अवाच्य। तो यहाँ निष्कर्ष यह लेना कि कोई भी वस्तु है, वह न केवल सत्‌रूप है कि सर्वथा सर्व पदार्थोंकी अपेक्षा सत् हो और न कोई वस्तु असत्‌रूप ही है कि सर्वथा अभाव हो और न कोई वस्तु असत्‌रूप ही है कि सर्वथा अभाव हो और न कोई वस्तु सर्वथा अवाच्य है और न तो अवाच्य शब्दसे बोला ही जा रहा है। इस तरह हे वीर जिनेन्द्र ! सत्यानूरूप वचन स्याद्वादशासनमें तो संगत हो सकते हैं, पर स्याद्वादशासनसे बहिर्भूत एकान्तवादियोंके सत्यानृत वचन सम्भव नहीं हैं।

प्रत्यक्ष-निर्देशवदप्यसिद्धम-
कल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम्।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो
न तावदद्वेषिणि वीर ! सत्यम्॥ ३३॥

(११७) निरंश वस्तुका अभाव सिद्ध न होने देनेके लिये शंकाकारकी एक आरेका—

यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि हमारे माने गये निरंश वस्तुका अभाव कैसे सिद्ध किया जा सकता, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्षसे तो निरंश वस्तुका प्रतिभास है ही। और जो यह धर्म है, यह धर्मी है या अन्य प्रकारके निर्णय हैं उनका प्रतिभास करने वाला निर्विकल्प प्रत्यक्ष नहीं है। धर्म धर्मीरूप जो सांश वस्तु है उसका प्रतिभास तो सविकल्प ज्ञान से होता है और यह सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्षके अनन्तर होता है। तो अब दो प्रकारके ज्ञान हुए—निर्विकल्प प्रत्यक्ष और सविकल्प ज्ञान। सो निर्विकल्प प्रत्यक्ष स्वलक्षण का प्रतिपादन कर नहीं सकता। प्रतिपादन जितना होता है वह सविकल्प ज्ञानसे होता है। तो सविकल्प ज्ञानसे निरंश वस्तुको मना भी नहीं कर सकते, क्योंकि वह बुद्धि मिथ्या है। निर्विकल्पज्ञान स्वलक्षणका प्रतिभास तो कराता है, मगर स्वलक्षणका प्रतिपादन नहीं कर सकता। तो अब स्वलक्षणका प्रतिपादन करना निर्विकल्प प्रत्यक्षके अधिकारकी बात नहीं है तो निरंश वस्तुका अभाव भी इस ज्ञानसे नहीं बताया जा सकता। और सविकल्प ज्ञान तो व्यवहार ज्ञान है, भ्रान्ति वाला ज्ञान है, उससे उसकी सिद्धि बन नहीं सकती और इसी तरह असिद्धि भी नहीं बन सकती, निर्विकल्प प्रत्यक्षका तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

इतना ही काम है कि वह स्वलक्षणका प्रतिभास किये जावे। तो जब निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा निरंश स्वलक्षणका प्रतिपादन नहीं हो सकता तो ऐसे असिद्ध दर्शनसे निरंश वस्तुका अभाव कैसे कहा जा सकता है? जैसे कि झट कह देते हैं लोग कि निरंश वस्तु दिखती नहीं है, इस कारण उसकी सत्ता नहीं है, उसका अभाव नहीं कहा जा सकता।

(११८) निर्विकल्प प्रत्यक्षसे निर्देशकी तरह निर्विकल्प-प्रत्यक्षकी भी असिद्धि वर्णित करते हुए उक्त शङ्काका समाधान—

शङ्काकारके उक्त प्रस्तावमें प्रारम्भसे अन्त तक असंगति ही असंगति मालूम पड़ती है। शंकाकारका कहना है कि प्रत्यक्षके द्वारा निर्देश नहीं बनता। तो भला जब प्रत्यक्षके द्वारा निर्देश नहीं बनता और प्रतिभास सो होता है—जैसे यह नील है, यह पीत है, इस प्रकारका वचन बिना समझमें तो आ रहा और अंगुली द्वारा उसका संकेत किया जा सकता ऐसा तत्त्व भी प्रत्यक्षके द्वारा असिद्ध बताया गया है। तो पहले वे उसी प्रत्यक्षको तो सिद्ध कर लें जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष है, उसकी सिद्धि कैसे कर सकते हैं? जरा दूसरे व्यक्तियोंको जिनको संशय हो या समझना चाहे उनको समझा तो दिया जाय कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष कुछ होता है। किस प्रमाणसे समझायेंगे? प्रमाण दो ही तो माने गए हैं—निर्विकल्प प्रत्यक्ष

और अनुमान। क्षणिकवादमें केवल दो ही प्रमाण हैं, सो निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्प प्रत्यक्षका ज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्ष दूसरेके प्रत्यक्षके द्वारा असम्वेद्य है। किसी भी चित्तका निर्विकल्प प्रत्यक्ष दूसरे चित्तके निर्विकल्प प्रत्यक्षसे तो जाना नहीं जा सकता। तो निर्विकल्प प्रत्यक्षकी प्रत्यक्षसे तो सिद्धि बन नहीं पायी और अनुमान द्वारा निर्विकल्प प्रत्यक्षकी सिद्धि यों नहीं बनती कि ऐसा कोई साधन नहीं है कि जिसका अविनाभाव निर्विकल्प प्रत्यक्षके साथ हो, क्योंकि अनुमान ज्ञान इस प्रकार होता है।

(११८) उपरोक्त शङ्काके समाधानमें एक उदाहरण—

जैसे धुवाँ देखकर अग्निका ज्ञान किया। तो धुवाँ अग्निका अविनाभावी है मायने अग्नि न हो तो धुवाँ नहीं हो सकता। ऐसा अविनाभाव सम्बंध है। और फिर धुवाँ दिख जाय तो उससे अग्निका ज्ञान होता है, ऐसे ही निर्विकल्प प्रत्यक्षके बिना जो चिह्न दिख जाय तो निर्विकल्प प्रत्यक्षका अनुमान बने, किन्तु निर्विकल्प प्रत्यक्षका अविनाभावी साधन कुछ है नहीं, फिर उसका ज्ञान भी सम्भव नहीं है। जब तक अविनाभाव लिङ्गका सम्बंध ग्रहणमें न आये तब तक अनुमान द्वारा बताया कैसे जा सकता है? यहाँ दो बुद्धियाँ बतायी गई हैं कि पहले तो निर्विकल्प प्रत्यक्षका अविनाभावी लिंग ही नहीं है और कदाचित् लिंग हो तो उसका ज्ञान सम्भव ही

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं है। और फिर निर्विकल्प प्रत्यक्षके साथ कुछ अविनाभाव है, ऐसा सम्बंध भी ज्ञात नहीं हो सकता।

(११९) निर्विकल्प प्रत्यक्षके साथ साधनके सम्बंधके प्रतिपत्ता व अप्रतिपत्ता दोनोंके अनुमान ज्ञानकी अनुपपत्ति—

जिसको साध्य-साधन सम्बंध नहीं ज्ञात हुआ उसको अनुमान द्वारा कैसे बताया जायगा अर्थात् नहीं बताया जा सकता, और यदि कोई उस तत्त्वका स्वयं ज्ञाता है, लिंग लिंगीके सम्बंधको जानता है तो उस पुरुषको निर्विकल्प प्रत्यक्ष का बोध करानेके लिए अनुमान देना निरर्थक है। दो प्रकार के यहाँ विकल्प रखे हैं—एक तो वह पुरुष जो निर्विकल्प प्रत्यक्षके साथ उसके साधनका सम्बन्ध नहीं जान रहा, उसको तो अनुमान कराया ही कैसे जा सकता है? और दूसरे वह पुरुष जो निर्विकल्पप्रत्यक्षके साथ उसके अविनाभावी साधनका सम्बन्ध जान रहा तो इसके मायने यह हुआ कि वह निर्विकल्प प्रत्यक्षको जान रहा है। तो जो स्वयं प्रतिपन्न है, निर्विकल्प प्रत्यक्षका जाननहार है उसको अनुमान बतानेकी जरूरत ही क्या है? शायद शङ्काकार यह कहे कि बीचमें भ्रम उत्पन्न हो जाय तो उसका निराकरण अनुमान द्वारा कराया जायगा, सो यह भी बात असंगत है, क्योंकि जो साध्य साधनके सम्बंध को जानने वाला है, जो निर्विकल्प प्रत्यक्षके साथ उसके साधन का सम्बंध जानता है उसको भ्रम ही क्यों होगा? और जो

सम्बन्धको नहीं जानता है उसे सम्बंध ग्रहण कराना सम्भव ही नहीं है, इस कारण समारोपके व्यवच्छेदका बहाना लेकर अनुमान प्रमाणकी उपयोगिता सिद्ध करना व्यर्थ है। तो निर्विकल्प प्रत्यक्षको न तो प्रत्यक्ष द्वारा जान सकते हैं, और न अनुमान द्वारा जान सकते हैं और इसी तरह गृहीतकी विस्मृति न बननेसे भी अनुमान द्वारा नहीं जान सकते। तो उस निर्विकल्प प्रत्यक्षको सिद्ध करने वाला कोई ज्ञान नहीं है। सो वह प्रत्यक्ष ही असिद्ध है। जो जब निर्विकल्प प्रत्यक्षकी भी सिद्धि नहीं है तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा निर्देश किए जाने वाले निरंश वस्तुकी सिद्धि कैसे बन सकती है? तो इस प्रकार दोनों ही असिद्ध हैं। न तो निर्विकल्प प्रत्यक्षकी सिद्धि है और न निर्विकल्प प्रत्यक्षके विषयकी सिद्धि है।

(१२०) प्रत्यक्षकी सिद्धिके अभावमें प्रत्यक्षके लक्षणार्थ के निर्देशकी असंभवता—

अब इसी विषयमें एक बात और समझिये कि जब प्रत्यक्षकी सिद्धि नहीं है तो प्रत्यक्षका लक्षणार्थ कैसे बन सकता है? याने प्रत्यक्षका लक्षण किया है जो ज्ञान कल्पनासे रहित है वह प्रत्यक्ष है। तो चीज तो कुछ है नहीं, लक्षण बना दिया तो यह तो एक विडम्बना ही हुई। न तो लक्षण का कहना युक्त है, न प्रत्यक्षका नाम लेना युक्त है, ऐसा प्रत्यक्ष का कि जो निर्विकल्प है और कल्पित स्वलक्षणका प्रतिभास

Report any errors at vikasnd@gmail.com

करने वाला है, और न उसका विषय ही सिद्ध है, सो हे वीर जिनेन्द्र ! आपके स्याद्वादशासनका जो द्वेषी है अर्थात् सत् असत् नित्य अनित्य किसी भी प्रकारका एकान्त करता हो, उसमें सत्य घटित नहीं होता ।

कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वा
ऽपृथक्पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम् ।
विकारहानेर्न च कर्तृ कार्ये
वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते ॥ ३४ ॥

(१२१) **पदार्थको क्षणिक अथवा नित्य अपरिणामी माननेपर दोनों ही मान्यतावोंमें कर्ता कार्यकी असिद्धि—** जो लोग पदार्थको वैसाका ही वैसा बिना अदल-बदल अवस्था पाये ही कालान्तरमें रहता है, ऐसा मानते हैं उन पुरुषोंके यहाँ कर्ता और कार्य दोनों ही नहीं बन सकते, चाहे वे कर्ता और कार्यको अभिन्न मानें अथवा भिन्न मानें या अवक्तव्य मानें । कैसी ही कुछ कल्पना करें, मगर जैसे पदार्थ को क्षणिक माननेपर कर्ता कार्य नहीं बनता, ऐसे ही नित्य अपरिणामी माननेपर भी कर्ता कार्य नहीं बनता, क्योंकि नित्य अपरिणामी माननेपर विकार तो कुछ बन न सका और विकारका ही नाम कार्य है । तो जब नित्य अपरिणामी तत्त्व में विकार न बना तो कर्ता ही कैसे रहा और कार्य क्या रहा ।

(१२२) **पदार्थके सम्बंधमें पदार्थके गुण—**

वास्तविकता यह है कि पदार्थ स्वयं अवस्थित है, सदा रहने वाला है, मगर उसके पूर्व आकारका त्याग होता है, मगर आकारका ग्रहण होता है और अपने सहजस्वरूपका कभी त्याग नहीं होता, ऐसी वस्तुस्थितिमें कार्य कारण भाव बना करता है । पर जहाँ किसी प्रकारका विकार ही नहीं माना गया, रंचमात्र अदल-बदल ही नहीं मानी गई वहाँ क्रम अक्रम भी नहीं रह सकता याने गुण और पर्याय भी नहीं ठहरते । जो अक्रमसे रहे सो गुण है और जो क्रमसे रहे सो पर्याय है । तो क्रम अक्रमका विकार जब कुछ रहा ही नहीं पदार्थमें, तब तो फिर कार्य क्या और कर्ता ही कौन रहा ?

(१२३) **कर्ता कार्य हुए बिना स्वयं अपवर्गके प्रयासके लिये चिन्तन व चेष्टाकी व्यर्थता—** जब पदार्थमें कोई विकार ही नही माना गया किसी प्रकारकी क्रिया ही नहीं मानी गई तब कर्ता कौन बना कर्ता वही कहलाता जो द्रव्य स्वतंत्र होकर भी अपनी क्रियामें रहता हो । तो क्रिया नहीं तो कर्ता नहीं, कर्ता नहीं तो कार्य नहीं और जब कार्य बन ही नहीं सकता तब तो स्वर्ग मोक्षकी सिद्धि करना आदिक ये ध्येय, ये प्रलाप क्यों किए जाते ? सो जैसे पदार्थको क्षणिक माननेपर उसमें किसी प्रकारका कार्य नहीं सिद्ध होता ऐसे ही नित्य अपरिणामी माननेपर उसमें भी किसी प्रकारका कार्य सिद्ध नहीं होता । सो हे वीर

Version 1

जिनेन्द्र जो लोग आपके द्वेषी हैं मायने स्याद्वाद शासनको नहीं मानते हैं उनका मोक्ष स्वर्ग आदिकके लिए प्रयास करना, यम नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान समाधि तपश्चर्या आदिक बताना अथवा करना सब व्यर्थ है, क्योंकि उस सिद्धान्तमें कर्ता कर्मको सिद्धि ही नहीं होती। इस प्रकार इस कारिग तक कुछ संक्षिप्त रूपसे प्रधान-प्रधान स्याद्वाद बाह्य मतोंके दोष बताये जिससे पहले जो यह प्रतिज्ञा की थी कि अन्य मत सब दोषपूर्ण हैं, उसका समर्थन किया और साथ ही साथ जो यह प्रतिज्ञा की थी कि है वीर जिनेन्द्र आपका मत अद्वितीय है, उसका भी समर्थन किया और इस कारणसे हे प्रभो आप ही महान् हैं, यह जो उद्देश्य बनाया था उसकी सिद्धि की है। अब प्रायः लोकमें जो स्वच्छन्द वृत्ति के लोग फिर रहे हैं, जिनकी संख्या अनगिनते हैं, ऐसे पुरुषोंके हार्दिक मंतव्यका दिग्दर्शन और उनका निराकरण कराते हैं।

मद्याङ्गवद्भूत-समागमे ज्ञः
शक्त्यन्तर-व्यक्तिरदैव-सृष्टिः।
इत्यात्म-शिश्नोदर-पुष्टि-तुष्टै-
र्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः॥ ३५॥

(१२४) लौकायतिक पुरुषोंके मन्तव्यकी समालोचना का प्रसंग—

लौकिक अथवा लौकायतिक या कहो चार्वाक यहाँ

यह कहते हैं कि चित्त जीव अथवा आत्मा यह कोई वस्तु नहीं है, यह तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन महाभूतोंका संगम होने पर उत्पन्न हुआ है। जैसे कि मद्यके कारणभूत कोदों महुवा आदिक पदार्थ हैं सो वे सीधे सीधे मद्य उत्पन्न नहीं करते किन्तु उनका समागम बननेपर सड़ान करते हैं, शराब बनती है जो मद्यका कारणभूत है, ऐसे ही कोई जीव अलग वस्तु नहीं है, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूतोंका समागम होने पर यह एक चैतन्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है और उस ही शक्तिका यह परिणाम विशेष है कि सुख दुःख हर्ष विषाद, विचार विकल्प ये दिखने लगते हैं। तो उन भूतोंका समागम मिलने पर उत्पन्न हुई जो शक्ति विशेष है उस ही का यह प्रकटपना है, यह कोई भाग्यकी सृष्टि नहीं है या कोई स्वतंत्र चैतन्य पदार्थ नहीं है, और मरण भी इस लिए होता है कि वे चारों महाभूत जब बिखर जाते हैं तो उनमें से वह चैतन्यशक्ति भी बिखर जाती है। ऐसा एक लौकायतिकोंका कथन है, जिसका उद्देश्य रहना— खूब खाना पीना, मौज करना, और तपश्चरण आदिकका कष्ट क्यों सहना? ऐसी चार्वाक् सिद्धान्तके विषयमें कुछ समालोचना की जाती है। अपने ही सांसारिक सुखके लिए सिद्धान्त बनाने वाले चार्वाक केवल अपनी ही उदरपुष्टि और विषय सेवनमें संतुष्ट रहने वाले हैं। जिनमें धर्मके विषयमें कुछ भी भावना

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नहीं है, उमंग नहीं है ऐसे पुरुष निर्लज्ज है, निर्भय है और वे जगतके कोमल बुद्धि वाले भोले, मनुष्योंको अपने वचनोंसे ठगते रहते हैं।

(१२५) लौकायतिक पुरुषोंकी मान्यताका ससमालोचन विवरण—

आत्मशिश्नोदर पुष्टितुष्ट पुरुषोंका सिद्धान्त है कि जब तक जियो सुखसे जियो जैसा चाहे खावो पियो खूब मौज उड़ावो, मांस मदिराका उनके परहेज नहीं, माता, बहिन, पुत्री इनका विभाग नहीं मनमें काम वासना जगी तो जैसा चाहे अनर्थ करे, पुण्य पाप और उसके कारणभूत शुभपरिणाम अशुभ परिणाम इनकी दृष्टिमें नहीं और परलोक मानते नहीं, जीवको भी नहीं मानते और यह कहकर दुनियाको ठगते हैं कि जानने वाला जीव कोई जुदा पदार्थ ही नहीं है भय हृदय से निकल गया। लोकलाज जरा भी न रही, पापोंमें निरंकुश प्रवृत्ति हो रही। लोगोंको विवेक करनेकी फिर आवश्यकता ही क्या है?

(१२६) लोकायतिक पुरुषोंकी मान्यताका ससमालोचन स्पष्टीकरण—

जैसे मदको उत्पन्न करने वाली शक्ति किसी देवता के द्वारा नहीं आयी है, उन्हीं पदार्थोंमें से निकली है; ऐसे ही पृथ्वी आदिक पदार्थोंमें से ही यह चैतन्यशक्ति निकली है, ऐसा

http://www.jainkosh.org

कथन करके ये जीवोंको आत्मश्रद्धासे हटा रहे हैं। आत्माको शान्ति कैसे प्राप्त होती है यह वहाँ विषय ही नहीं रह गया। बाह्य पदार्थोंमें उपयोग देनेसे, स्वच्छंद लगनेसे कहीं शान्ति भी आ सकती है क्या? लेकिन मूलभूत चैतन्य पदार्थको तो वे एकदम उड़ा रहे हैं और भौतिकवाद बनाकर सांसारिक सुखों में उमंग देनेकी प्रेरणा करते हैं। इन लौकायतिकोंका वचन है कि जैसे हरड़ जुलाबका काम करती है तो उससे जुलाबकी शक्ति बनी है, उस शक्तिको किसी देवताने पैदा नहीं किया, ऐसे ही इन चारों भौतिक पदार्थोंमें चैतन्यशक्ति स्वभावसे है, उसे किसी देवताने पैदा नहीं किया। कदाचित् कभी कोई पुरुष हरड़को खाये और जुलाब न हो तो कुछ और कोई कारण है। तो ऐसे ही कहीं अगर ये चारों चीजें इकट्ठी हो जायें और चैतन्यशक्ति प्रकट न हो तो उसमें भी कोई कारण है याने चैतन्य कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है तो स्वतंत्र पदार्थ नहीं तो उसका परलोक कैसे होगा और जब परलोक ही नहीं है तो परलोकका भय करके अपने आपको कष्टमें डालनेका प्रयास क्यों किया जा रहा है? न तो कोई यम, नियम आदिक करके कष्ट देना चाहते और न किसी तरह समाधि प्राणायाम आदिक करके कोई कष्टकी बात करना चाहते, इस तरह ये चारुवाक जो मनमें आयी सो करनेकी बात कहते हैं और यथा तथा प्रवृत्तिके लिए उमंग दिलाते हैं। ऐसे इन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चार्वाकोंके कथनसे जीवोंका कितना अनिष्ट हो रहा है, परलोक का भय हृदयसे निकल गया। लोक-लाज जरा भी न रही, पापोंमें निरंकुश प्रवृत्ति हो रही, लोगोंको विवेक करनेकी फिर आवश्यकता ही क्या है?

(१२७) लौकायतिकसे वचनोंमें विवेकी पुरुषोंको ठगने की असमर्थता—

इन चार्वाकोंके कथनसे यह जगत बताया गया है। लेकिन भोले पुरुष ही ठगे जाते हैं, जो विवेकी पुरुष हैं वे नहीं ठगे जा सकते। वे जानते हैं कि जो मैं है वह अनादि से है। वह किसीके संयोगसे उत्पन्न नहीं होता। आत्मा उपयोग लक्षणस्वरूप है, वह प्रमाणसे सिद्ध है। कहीं चार भूतों के समागमसे चैतन्य उत्पन्न नहीं होता और मानो उत्पन्न हुआ तो सत् उत्पन्न हुआ या असत् उत्पन्न हुआ? अगर चैतन्य सत् है तो वह तो पहलेसे ही था, उत्पन्न कैसे हो गया? जो असत् है वह किसी भी उपायसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता, ऐसे इस आत्मतत्त्वको स्वयं सत्ता है और उसकी जो प्रतीति रखता है वह अनायास ही शान्ति प्राप्त कर लेता है। जब वह चैतन्यशक्ति सद्भूत है तो उसकी पर्यायें होती रहती हैं और जो पर्यायें हैं वे ही हर्षविषाद आदिक भाव हुआ करते, तो यों कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य सद्भूत आत्मा है, ऐसा निर्णय हे वीर जिनेन्द्र! आपके स्याद्वाद शासनसे ही

होता है।

(१२८) लोकायतिकों द्वारा मद्यांगका उदाहरण देनेकी असंगतता—

यहाँ शङ्काकार कहता है कि जिन चीजोंसे मदिरा उत्पन्न होती है इन चीजोंमें मदशक्ति पहलेसे मौजूद है, मगर वह प्रकट तो नहीं है। जब उनका समागम किया जाता है और सड़ाये जाते हैं तो उनमें वह शक्ति प्रकट होती है, तो ऐसे ही भूतोंमें शक्ति तो पड़ी है, पर जब इनका समागम होता है तब उसमें से शक्ति चैतन्य प्रकट होती है। यह कहना भी शङ्काकारका ठीक नहीं, क्योंकि वह मदशक्ति भी कथञ्चित् नित्य चेतनमें है और उसका कारण यह है कि मदशक्ति मदायला होनेकी, बेहोश होनेकी शक्ति चेतनमें है, अचेतन तो एक पदार्थ है, जैसा है सो है। मदशक्ति अचेतनमें नहीं, किन्तु चेतनमें है। जो सर्वथा अचेतन हैं उनमें मद शक्तिका होना असम्भव है। मदशक्तिकी सम्भावना भावमन और भावइन्द्रियमें है। जब कभी कोई मद्य पीता है और बेहोश होता है तो बेहोश इन्द्रियाँ होती हैं या जीव बेहोश होता है? इन्द्रियाँ क्या हैं? वे तो जैसी हैं सो ही हैं। बेहोश होनेपर भी शरीरमें लगी हुई हैं। बेहोश होता है चेतन ही। तो मदशक्तिकी सम्भावना चेतनमें है। अगर अचेतनमें मदशक्ति हो तो जब किसी बोतलमें या किसी पात्रमें मदिराको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रखा जाय तो वह बोतल या पात्र क्यों नहीं बेहोश होता है ? उसे नशा आ जाना चाहिए ।

(१२९) शराबी पुरुषोंकी शराबी बर्तनोंसे तुलना—

जैसी चेष्टा शराबी मनुष्योंकी होती है वैसी चेष्टा उन बोतल और बर्तनोंकी तो नहीं हुआ करती । तो मदशक्ति अचेतनमें नहीं है, चेतनमें ही मदशक्तिकी अभिव्यक्ति होती है । हाँ उसके बाह्य कारण मदिरा आदिक है और अन्तरंग कारण मोहनीयकर्मका उदय है । जीवोंको जितने भी सुख दुःख आदिक होते हैं उनका अन्तरंग कारण तो कर्मोदय है और बाह्य कारण इन बाह्य पदार्थोंका समागम है । मोहनीय कर्मके उदय बिना बाह्यमें मद्य आदिकका संयोग भी हो जाय तो भी मदशक्ति प्रकट नहीं होती ? एक प्रश्न किया जाय कि जो आत्मा मुक्त हो गए हैं उनमें मदशक्ति अब क्यों नहीं प्रकट है ? तो उसका कारण यह है कि वहाँ न अन्तरंग कारण है और न बहिरंग कारण है । वह तो खालिस आत्मा है, उसके साथ कोई उपाधि नहीं है । तो जब मदशक्ति अचेतनमें है नहीं, चेतनमें ही है तब चैतन्यशक्तिके विरोधमें अचेतनका उदाहरण देकर प्रतिपादन करना ठीक नहीं होता ।

(१३०) नित्यानित्यात्मक चेतनतत्त्वकी सिद्धि—

जो चेतनशक्ति है वह नित्य है, वह अन्य पदार्थों से विलक्षण स्वरूप रखने वाली है, और जब यह चेतनशक्ति

http://www.jainkosh.org

नित्य है तो जैसे आज इस लोक और इस भवमें है ऐसा ही आगे यह चेतन अगले लोकमें, अगले भवमें भी रहेगा, और इस वास्ते स्वर्ग अपवर्गके साधन बनाये जाते हैं कि यह आत्मा आगे भी रहेगा तो उसकी कैसी स्थिति रहनी चाहिए ? हर्ष वाली, सुख वाली या दुःख वाली । दुःख वाली स्थितिको तो कोई नहीं पसंद करता, दुःखके साधन हैं खोटे परिणाम और खोटे परिणामसे वर्तमानमें भी आकुलता है और भविष्यमें भी आकुलता है । तो खोटे परिणाम न रहें, ऐसे जितने भी प्रयास हैं उन्हींके मायने तो व्यवहार धर्म है और परमार्थतः ज्ञान ज्ञानमें ही बस सके ऐसा पौरुष बन जाय तो वह निश्चयधर्म का पालन है । तो वे चार्वाक यह मानकर चेतनका निषेध कर न सके कि चैतन्यशक्ति पहलेसे ही सत् है ।

(१३१) नित्यानित्यात्मक चेतनतत्त्वकी सिद्धिके विषय में दूसरी बात—

अब दूसरी बात यदि शंकाकार कहे कि चैतन्य-शक्ति रंच भी विद्यमान नहीं है इन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिकमें और ऐसी अविद्यमान शक्ति ही व्यक्त होती है तो यह बात बिल्कुल प्रतीति विरुद्ध है, जगतमें ऐसा कभी होता ही नहीं कि जो किसी भी रूप है ही नहीं, जिसका सत्त्व ही नहीं और वह किसी प्रकार ? उत्पन्न हो जाय या व्यक्त हो जाय, और ऐसा यदि वे मान लें कि चैतन्यशक्ति कथञ्चित्

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सत्‌रूप है, कथंञ्चित् असत् रूप है तो इससे भी स्याद्वाद शासन की ही सिद्धि हुई याने जैसा भव पाया, जैसे शरीर इन्द्रियका योग जुड़ा, उस रूपसे चैतन्यशक्तिकी व्यक्ति न थी, मगर मूलभूत चैतन्यपदार्थ तो पहलेसे ही था। तो यह स्याद्वाद ही वर्णन समझिये। चेतन है और वह सदा रहने वाला है, उसकी अवस्थायें बनती रहती हैं। तो द्रव्यदृष्टिसे चेतन नित्य है, पर्यायदृष्टिसे चेतन अनित्य है। अब उस चैतन्यशक्तिकी जो अभिव्यक्ति है याने शरीरके आकार परिणमे हुए पुद्गलके द्वारा जिस विकारकी अभिव्यक्ति हुई है सो द्रव्यदृष्टिसे तो सत्‌रूप ही है फिर भी पर्यायदृष्टिसे जो न था सो उत्पन्न हुआ। इस चेतनके बारेमें ये सब बातें कहना सम्भव है, जो था सो ही प्रकट हुआ। जो न था सो प्रकट हुआ, जो था सो नष्ट हुआ आदिक सभी बातें द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि की अपेक्षा लगाकर सम्भव हैं, जब पर्यायदृष्टिसे निहारते हैं तो यह कथन बनता है कि जो न था सो प्रकट हुआ है, जब द्रव्य दृष्टिसे निहारते हैं, तो यह सिद्ध होता है कि जो था सो ही प्रकट हुआ है। कहीं असत् प्रकट नहीं हुआ और फिर इस चैतन्यतत्त्वकी सिद्धि तो अनुभवसे भी हो जाती है। प्रत्येक जीव 'अपने आपमें हूं' ऐसा मानता है और ज्ञानस्वरूप पदार्थ में हूं की कल्पना करता है। तो ज्ञानस्वभावी पदार्थ है, उसी को ही आत्मा कहते हैं। तो आत्मा है और अनादिसे है,

अनन्तकाल तक रहेगा, अपने-अपने परिणामके अनुसार यह अवस्थायें पाता है इस कारण इसको दुःखकी अवस्था न मिले शान्तिकी अवस्था प्राप्त हो ऐसा उद्यम करना चाहिए।

दृष्टेऽविशिष्टे जननादि हेतौ-
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धि-
रतावकानामपि हा! प्रपातः॥ ३६॥

(१३२) चैतन्योत्पत्तिके हेतुभूतोंका अविशिष्ट समागम में प्रति प्राणियोंकी विशिष्टताका विरोध—

इस कारिकामें चार्वाकोंके सिद्धान्तमें आपत्तियाँ बताई है, चार्वाक यह मानते हैं कि चेतनकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति पृथ्वी आदिक भूतोंके समागमसे होती है तो जरा वे यह सोचें कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका समागम हुआ तो वह तो समागम एक ही ढंगका है। चार चीजें थीं अचेतन, उनका संगम हो गया है तो वह तो सब जगह एक समान संगम है। जब सर्वत्र एक समान हो इन दूसरे भौतिक पदार्थों का समागम है तो जीवोंमें जो अलग अलग विशेषता दिख रही है कोई कम ज्ञान वाला है, कोई अधिक ज्ञान वाला है, इस तरहका जो विचित्र भेद जीवोंमें पाया जा रहा है यह विशेषता फिर कैसे बन सकती, क्योंकि इन चारों चीजोंका मिलना सर्वत्र एक समान है, तो उसमें चैतन्यशक्ति एक ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तरहकी प्रकट होनी चाहिए। उसका लक्षण, उसकी अभि-व्यक्ति सब एक समान होना चाहिए, मगर यहाँ तो बड़े भेद नजर आ रहे हैं। कोई जीव बिल्कुल मूर्ख है, कोई जीव बहुत बड़ा ज्ञानी है, किसीको महान् दुःख रहता है तो किसीको बड़ा सुख समागम मिलता है तो इतना बड़ा फर्क कहाँसे आ गया अगर चेतन स्वतंत्र पदार्थ नहीं है तो ? जब कारणमें भेद नहीं होता तो कारण जन्य कार्यमें भी भेद नहीं बन सकता। चारों पदार्थ भौतिक मिल गए, मिलना एक समान है, उसमें कोई विशेषता नहीं, तो चेतनमें विशेषता भी न होनी चाहिए। चेतनाको भौतिक माननेपर चेतनकी विशेषताको किस आधार सिद्ध करेंगे ?

(१३३) स्वतंत्र सद्भूत चेतनमें उपाधिभेदसे पर्यायभेदों की सिद्धि—

चेतन तत्त्व है पृथक् तो उसकी शक्ति है। उपाधि भेदसे उसके भेद नजर आयेंगे, कोई कम जानकार, कोई ज्यादा जानकार, जैसा जिसके कर्मका उदय है, कर्मका हटाव है उसमें उस प्रकारसे अन्तर आता जायगा। अगर चेतन पदार्थ ही कुछ नहीं है और वह केवल चार भौतिक पदार्थोंकी ही कला है तो जीवोंमें ऐसी विशिष्टता कैसे सिद्ध हो सकती है ? यहाँ शङ्काकार यदि यह कहे कि चेतनमें भी जो विशेष अन्तर नजर आ रहे हैं सुख दुःख, ज्ञान अज्ञान आदिकके वह विशि-

ष्टता भी स्वभावसे ही मान ली जावे। ऐसा कहने वाले चार्वाक जरा यह तो सोचें कि किसी झूठको सिद्ध करनेके लिए इतना परिश्रम कर रहे हैं तो वे स्वभावसे उन भूतोंसे भिन्न आत्मतत्त्वको ही सिद्धि क्यों नहीं मान लेते ? उसमें क्या बाधा आती है ? और इस चेतन आत्माको न मानकर वह भूतोंका कार्य है ऐसा परिश्रम कर रहे सोचनेका, उससे नतीजा क्या निकलता है ?

(१३४) कारणकी समीक्षामें चैतन्यतत्त्वकी स्वतन्त्र सिद्धि—

उक्त समस्याके समाधानमें यदि चार्वाक यह विचारें कि जब उनका यह कहना है कि है तो चेतन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिकका कार्य और इस चेतनमें विशेषता स्वभावसे है तो चेतनके स्वभावसे प्रसिद्ध विशेषतायें शरीराकार परिणत हुए पृथ्वी आदिकके अर्थ हैं, ऐसा मानने वाले ये भी बतलायें कि चेतनका कारण जो भूतोंको मानते हैं सो ये भूत चेतनके उपादान कारण हैं या सहकारी कारण ? यदि उन्हें उपादान माना जाय तो फिर उस चेतनमें वह ही बात कहनी चाहिए जो पृथ्वी आदिकमें है।

(१३५) कारणकी समीक्षामें चैतन्यतत्त्वकी स्वतंत्र सिद्धि का उदाहरण—

जैसे आभूषणका उपादान स्वर्ण है तो सब आभू-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

षणोंमें स्वर्णपना आता है, ऐसे ही चेतनका उपादान कारण यदि भौतिक है तो चेतनमें भी भूतपना ही आना चाहिए। और ऐसा भी नहीं देखा जा रहा कि इस पृथ्वी आदिकने अपने अचेतनके आकारका त्याग किया हो और चैतन्यस्वरूप को धारण किया हो। जब तक अपने पूर्व आकारका त्याग न करे और नवीन आकारका ग्रहण न करे तब तक उसे उपादान नहीं कहा जा सकता। सो भूतोंने अचेतनाकारोंका त्याग नहीं किया सो उपादान कारण नहीं हो सकते हैं और भूतोंका जो स्वभाव है वर्ण, गंध आदिक या धारणा आदिक, वे चेतनमें नहीं पाये जाते। यहाँ तो बिल्कुल भिन्न लक्षण हैं, चेतनका लक्षण चेतना है, भूतोंका लक्षण रूपादिक है, तो भला विजातीय पदार्थोंसे अन्य प्रकारका पदार्थ कैसे उत्पन्न हो सकता है? उपादान कारण भी हो कोई तो पदार्थके अनुरूप ही कार्य बनेगा। ये पृथ्वी आदिक अचेतन कोई भी मिल जाये वहाँ चेतन कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तो अचेतन ये पृथ्वी आदिक उपादान कारण तो रहे नहीं और सहकारी कारण माननेका अर्थ ही यह है कि चेतन कोई भिन्न पदार्थ है और उपादान है। तो किसी भी तरह कारणके बारेमें आलोचना करें तो यह ही सिद्ध होगा कि चेतन भिन्न तत्त्व है और भूतादिक भिन्न तत्त्व हैं, पर उस चेतनको जो नहीं मान रहे है वे पुरुष जैनशासनसे बाह्य हैं और उनका यह विचार इस

संसारसमुद्रमें ही डुबोने वाला है।

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम्।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-
स्त्वद्दृष्टि बाह्या बत! विभ्रमन्ते ॥ ३७ ॥

(१३६) स्वच्छन्दवृत्ति होनेसे लोकोंकी महापापोंमें भी अदोषकी आस्था—

यह संसार स्वभावसे ही स्वच्छंद प्रवृत्ति वाला है, और यही कारण है कि जीव इस लोकमें ऊँचेसे ऊँचे पापोंके मार्गमें निःशङ्क प्रवृत्ति करते हैं और साथ ही यह घोषणा करते हैं कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन ५ महापापोंमें भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवका स्वभाव ही जैसा चाहे वैसी प्रवृत्ति करनेका है, इस कारण पाप में दोष नहीं है, ऐसा कहते हैं और ऐसे पुरुष तीन भागोंमें विभक्त हैं—एक है लौकायतिक जहाँ धर्म कर्म कुछ नहीं, और जीवकी सत्ता भी नहीं। दूसरे वे पुरुष हैं। जो स्वच्छंद प्रवृत्ति तो रखते हैं, पर थोड़ा मंत्र दीक्षाके व्यवहारमें भी कहते हैं। तीसरे वे पुरुष हैं जो प्रवृत्ति तो स्वच्छंद रखते हैं, पर साथ ही यज्ञ क्रियाकाण्डमें भी आस्था रखते हैं। सो जो पहले प्रकारके जीव हैं, भूतोंसे चेतनकी व्यक्ति मानते हैं, जीवकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं वे तो निःशंक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

पापमें प्रवृत्त होते ही हैं और दूसरी प्रकारके मांत्रिक लोग पापोंमें प्रवृत्ति भी करते और दीक्षामंत्र भी ग्रहण करते, पर वह मानते हैं। तो यों मंत्रविशेषके आरोपणसे समय ही मुक्त हो जानेका जिन्हें अभिमान है वे पुरुष पापोंमें हर प्रकारसे स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, क्योंकि उन्होंने यह आस्था बना रखी है कि दीक्षा लेते ही मुक्ति हो जाया करती है, और मुक्त को फिर किसी प्रवृत्तिमें हानि कुछ नहीं है, तीसरी प्रकारके वे लोग जो यज्ञ क्रियाकाण्डमें विश्वास रखते हैं, मुक्तिमें विश्वास नहीं रखते, उनके लिए स्वर्ग ही सब कुछ है। जो यम नियम दीक्षा नहीं मानते, स्वभावसे ही प्राणियोंको स्व-छंद प्रवृत्ति बतलाते हैं यज्ञादिकके नामपर अथवा धर्मप्रसंगमें अन्य समयमें भी मांस भक्षण करना, मदिरापान करना और यथेच्छ कामसेवन करना, ऐसे अनाचारोंमें वे कोई दोष नहीं देखते हैं। यज्ञक्रियामें पशुवध आदिक होना उस मार्गमें भी निर्दोष बतलाते हैं, ऐसे ये तीसरे प्रकारके लोग भी ५ महा-पापोंमें स्वच्छंद होकर प्रवृत्ति किया करते हैं। सो हे जिनेन्द्र-देव ! जो तुम्हारे शासनसे बहिर्भूत हैं वे भ्रममें पड़े हुए हैं और पापकार्योंको करके भी वे मनमें निर्दोष रहा करते हैं। यह उनका घोर अन्धकार है और यह बड़े ही खेदका विषय है।

http://www.jainkosh.org

प्रवृत्तिरक्तैः शमतुष्टिरिक्तै-
रुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं तमः
परेषां तव सुप्रभातम् ॥ ३८ ॥

(१३७) अज्ञानवश प्रवृत्तिरक्त शमतुष्टिरिक्त पुरुषोंकी हिंसामें अभ्युदयाङ्गकी आस्था तथा प्रवृत्तिमें शान्तिकी आस्था—

जो लोग शान्ति और यथार्थ संतोषसे रहते हैं याने क्रोधादिक कषायोंका जहाँ शमन नहीं है और आत्मदृष्टि न होनेके कारण जिनके पास संतोष फटकता भी नहीं है और इसी कारण वे पापकार्योंकी प्रवृत्तिमें रत रहा करते हैं, ऐसे यज्ञवादी दार्शनिकोंके द्वारा वह घोषणा की गई है कि हिंसा स्वर्गादिक प्राप्तिके हेतुका आधार है अर्थात् हिंसासे स्वर्गादिक प्राप्त होते हैं, और इतना ही नहीं उन्होंने इस चर्याको स्वयं अपनाया है ऐसी जो उन यज्ञवादियोंने मान्यता प्रचलित की है यह बहुत बड़ा घोर अन्धकार है, अज्ञानभाव है, इसके फल में वे स्वयं संसारमें रुलते हैं और जीवोंको जिन्होंने बहकाया है वे यथेष्ट प्रवृत्ति करके संसारमें रुला करते हैं। तो ऐसे इस अज्ञान अन्धकारमें पड़े हुए दार्शनिकोंका यह विश्वास है कि यज्ञमें की हुई हिंसा स्वर्गका कारण होती है अथवा किसी भी समय की हुई हिंसा कोई दुर्गति नहीं करती। इसी प्रकार

Version 1

ऐसी भी इनकी मान्यता है कि यज्ञादिक कार्योंमें जो भी प्रवृत्ति की जाती है, जो भी राग मोहका नाटच किया जाता उससे शान्ति होती है। ऐसी उनकी मान्यता वह भी घोर अंधकार है क्योंकि जितनी भी प्रवृत्ति होती है वह तो रागादिकके उत्पन्न करने वाली है, अशान्तिकी ही उत्पन्न करने वाली है। क्योंकि जहाँ रागादिकका उद्वेग है वहाँ शान्ति नहीं हो सकती। वहाँ अशान्ति ही बढ़ेगी प्रवृत्तिमें वीतरागता तो नहीं और शान्तिका कारण वीतरागता ही है। इस कारण हे प्रभो, आपका यह स्याद्वादशासन ही अज्ञान अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ है, इस कारण स्याद्वादशासन ही वास्तविक सुप्रभात है। और जहाँ वस्तुस्वरूपका निर्णय नहीं है, आत्माके सहज स्वरूपका निर्णय नहीं है वहाँ भी उपयोग बाहर भटकायेंगे ही और बाह्य पदार्थोंमें भटका हुआ उपयोग अशान्तिका ही कारण है, वहाँ शान्ति हो ही न सकेगी।

शीर्षोपहारादि भिरात्मदुःखे-
र्देवान्किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः।
सिद्धयन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा-
युक्तं च त्वमृषिर्न येषामा ॥३९॥

(३८) दोषापचयानपेक्ष पुरुषोंकी विविध विडम्बित चर्या—

कुछ ऐसे मंतव्य वाले हैं कि जो अपना शीष चढ़ा

कर या बकरा, सूकर आदिकका सिर चढ़ाकर ऐसा मानते हैं कि ऐसे कृत्योंके कारण देव प्रसन्न होते हैं और मुक्ति प्राप्त कराते हैं। ये समस्त कृत्य जो पहले प्रचलित थे उनका नमूना रूप अब भी कहीं कहीं देखा जाता है। जैसे पर्वतपरसे गिरना, देवताके आगे बकरा मुर्गा आदिक पशुओंका बध करना ये सब कृत्य उन्हीं यज्ञोंसे सम्बंधित हैं जो हिंसा कृत्योंका समर्थन करते हैं। ऐसे अज्ञानियोंकी यह आस्था है कि इन कृत्यों द्वारा यक्ष महेश्वर देवताकी आराधना बनती है और उनकी आराधनासे संसारके संकटोंसे छूट होती है, ऐसी आस्था उन्हींके ही हो सकती है जो दोषोंके विनाशकी अपेक्षा नहीं रखते। जिनको यह श्रद्धा है कि शान्ति रागादिक दोषोंको दूर करने से ही मिलेगी वे ऐसे मूढ़ता वाले कृत्य नहीं करते। जिनको यह विदित ही नहीं कि शान्ति रागादिक दोषोंके दूर होनेसे हुआ करती है और इसी कारण जिनको विकार दूर करनेको परवाह नहीं है ऐसे पुरुष कामसुख आदिकके लोलुपी होते हैं और महापापमें प्रवृत्त होते हैं। सो ऐसी करनी करना उनको ही ठीक जंच रहा जिनके हे वीर प्रभु आप गुरू नहीं है अर्थात् आपके शासनसे जो बहिर्भूत हैं, घोर अज्ञानताको लिए हुए है ऐसी अंधेरगर्दी उन्हीं मिथ्यादृष्टियोंके सम्भव हैं।

(१३९) दोषापचयानपेक्ष प्रभुके भक्तोंकी दोषोंसे मुक्त होनेकी कामना—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हे प्रभो ! आप वीतराग हैं, आपके जो उपासक हैं वे रागादिकको दूर करनेको ही कामना करते हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुषोंके यह ही आस्था होती है कि गुण जहाँ पूर्ण हों, दोष जहाँ रंच भी न हों, ऐसी स्थिति प्राप्त हो वहाँ इस जीवकी भलाई है। सो हे प्रभु यह अवस्था आपको प्राप्त हुई है। आप में रागादिक दोष रंच भी नहीं रहे और ज्ञानानन्दगुण उत्कृष्टताको प्राप्त हुए। सो जो पुरुष वीतराग प्रभुके शिष्य हैं, वे हिंसा आदिक पापोंसे विरक्तचित्त हैं, दया, इन्द्रियमन, परिग्रह, त्याग आत्मदृष्टिकी तत्परताको लिए हुए हैं, स्याद्वाद शासनको प्राप्त हैं, नय प्रमाण आदिक युक्तियोंसे परमार्थ तत्त्वका भले प्रकार निर्णय किया है उन सम्यग्दृष्टियोंके ऐसी मिथ्या मान्यता नहीं होती जो लोकमूढ़तामें शामिल है। ज्ञानी पुरुष देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, लोकमूढ़ता आदि सर्व मूढ़ताओंसे दूर होते हैं। धर्मका रूप रखकर तो हिंसा स्वप्नमें भी नहीं बनती है।

सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषा
पदं विशेषान्तर पक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्तर वृत्तितोऽन्यत्
समानभावं नयते विशेषम् ॥ ४० ॥

(१४०) विशेषोंकी सामान्यनिष्ठता—

७वीं कारिकामें यह बताया गया था कि अर्थ तत्त्व अभेदभेदात्मक है अर्थात् सामान्यविशेषात्मक है। जो अभेद तत्त्व है वह सामान्य है और जो भेद तत्त्व है वह विशेष है। जो भी सत् है वह सामान्यविशेषात्मक होता ही है, ऐसे वचन सुनकर एक यह प्रश्न होता है कि उसमें जो विशेष है वह क्या सामान्यमें निष्ठ है याने सामान्यमें लीन व परिसमाप्त है या सामान्य विशेषमें निष्ठ है अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्पर एक दूसरेमें निष्ठ हैं। ऐसे यहाँ तीन प्रकारके विकल्प किए गए। प्रथम विकल्प तो यों सही नहीं है याने सामान्य विशेषमें निष्ठ है, यह कहना तो यों युक्त नहीं है कि विशेष होते हैं अस्थिर कुछ काल रहने वाले और सामान्य, यदि विशेषमें रहता है तो उस विशेषका अभाव होने पर सामान्यके भी अभावका प्रसंग होता। फिर तो सत् ही कुछ न रहा। विशेष नाम गुणोंका भी है और पर्यायोंका भी है। गुण तो अखंड सद्भूत द्रव्यमें कल्पनासे किया गया भेद है और पर्याय द्रव्यत्व गुणके कारण पदार्थमें अनिवार्य क्षण-क्षण में होने वाली अवस्था है। अगर विशेषोंमें सामान्यका रहना कहा जाय तो जो पर्याय नष्ट हुई है और पर्यायोंमें सामान्य लीन है तो पर्यायके नष्ट होते ही सामान्य भी समाप्त हो जायगा, इस कारण प्रथम विकल्प तो युक्तिसंगत नहीं हैं, पर हाँ दूसरा विकल्प सही है याने विशेष सामान्यमें निष्ठ होता है। एक द्रव्यमें क्रमभावी और सहभावी और उनके भी अनेक भेद प्रभेद ये सब विशेष हैं और परिस्पंद अपरिस्पंद रूपसे

http://www.jainkosh.org
Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी नाना प्रकारकी पर्यायें हैं। वे सभी विशेष एक द्रव्यमें रहनेके कारण द्रव्यनिष्ठ कहलाती हैं याने यह सब ऊर्ध्व विशेष ऊर्ध्वता सामान्यके परिसमाप्त है और तीसरा विकल्प जो कहा गया था कि सामान्य और विशेष निरपेक्षरूपसे परस्पर निष्ठ हैं क्या ? तो यह मान्यता भी बाधित है। अपेक्षासे तो बात कही जा सकती, परन्तु निरपेक्ष रूपसे विशेष सामान्यमें लीन हो, सामान्य विशेषमें लीन हो, ऐसी बात सम्भव नहीं है।

(१४१) वर्णसमूहरूप पदकी विशेषान्तरपक्षपातिता होनेसे मुख्य गुणरूपसे विशेषवाचकता—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि विशेष यदि सामान्यमें निष्ठ है तो यह बतलाओ कि जो वर्णसमूह बोले जाते हैं, जिनका नाम पद है, वह पद किसका वाचक होता है ? वर्णसमूहरूप पद क्या विशेषका वाचक है या सामान्यका वाचक है या उभयका वाचक है या अनुभयका ? किसका बोध कराता है ? समाधान यह है कि जो वर्णसमूहरूप पद है वह विशेषान्तरका पक्षपाती होता है याने विशेषोंमें से किसी एक विशेषका प्रधानरूपसे वाचक होता है। विशेष हैं तीन प्रकारके द्रव्य, गुण और कर्म। इन तीन प्रकारके विशेषोंमें से किसी एक विशेषका प्रधानरूपसे वाचक है और साथ ही दूसरे विशेषको स्वीकार करता है। यदि वचन अपने किसी एक विशेषको ही स्वीकार करे, अन्य विशेषोंको स्वीकार न करे तो उसकी

किसी भी विशेषमें प्रवृत्ति नहीं बन सकती। सो वर्णसमूहरूप पद विशेषका तो वाचक है, मगर उन विशेषोंमें से एकको प्रधानरूपसे बताते हैं और दूसरेको गौण रूपसे बताते हैं। इसके संबंधमें आगेकी कारिकामें विशेष वर्णन किया जायगा।

(१४२) उपरोक्त विवरणका संक्षिप्त रूपमें उपदेश—

यहाँ इतना ही समझिये कि वर्णसमूह रूप पद मुख्यतया किसी विशेषका वाचक होता है और जब विशेषका वाचक हुआ तो साथ ही यह भी अर्थ समझना चाहिए कि विशेषान्तरोंके अन्तर्गत उसकी वृत्ति है तो दूसरे विशेषको सामान्यरूपमें प्राप्त कराते हैं याने इसे कहते हैं तिर्यक्सामान्य। इस प्रकार वर्णसमूहरूप पद सामान्य और विशेष दोनोंको प्राप्त कराता है। एकको प्रधानरूपसे प्रकाशित करता है पद तो दूसरेको गौणरूपसे प्रकाशित करता है, क्योंकि सामान्य-रहित विशेष कुछ वस्तु नहीं और विशेषरहित सामान्य भी कुछ वस्तु नहीं। जगतमें कोई सामान्य ऐसा नहीं है कि जिसका विशेषसे सम्बंध नहीं। विशेषनिरपेक्ष सामान्य नहीं, इसी प्रकार सामान्यनिरपेक्ष विशेष भी नहीं होता। अनुभवमें भी नहीं आता कि कोई सामान्य ही सामान्य ज्ञानमें आया हो अथवा मात्र विशेष विशेष ही ज्ञानमें आया हो तो जब मात्र सामान्य अवस्तु है और इसी प्रकार मात्र विशेष अवस्तु है तो वर्णसमूहरूप पद अवस्तुका कैसे वाचक हो सकेगा ? तो वर्ण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

समूहरूप पद सामान्य मात्रका वाचक नहीं, विशेष मात्रका वाचक नहीं, इसी प्रकार परस्पर निरपेक्ष दोनोंका वाचक नहीं और सामान्य विशेषसे रहित शून्य अवस्तुका भी वाचक नहीं, किन्तु इस सर्वथा वाले चारोंसे विलक्षण सामान्यविशेषात्मक वस्तुको ही यह वर्णसमूह रूप पद प्रधान और गौणरूपसे प्रकाशित करता है तब ही यथार्थ विदित होता है। और इसी कारणसे ज्ञाताके उस पदसे वस्तुकी प्रवृत्ति और प्राप्ति दोनों ही देखी जाती हैं।

यदेवकारोपहितं पदं तद्
अस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्यायसामान्यविशेष सर्वं
पदार्थ हानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥ ४१ ॥

(१४३) एवकारोपहित पदकी अस्वार्थव्यवच्छेदकता—

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि वर्णसमूह रूप पद सामान्यविशेषात्मक पदार्थको कभी सामान्यकी प्रधानतासे प्रकाशित करता है, कभी विशेषकी प्रधानतासे प्रकाशित करता है, तो उस ही पदके बारेमें कुछ प्रकाश इस छन्दमें डाला गया है जो पद सरकारसे सहित है अर्थात् जिसके साथ एव लगा है, निश्चय पड़ा है, जैसे जीवएव अर्थात् जीव ही, एवका अर्थ है 'ही'। पदके साथ 'ही' लगा हुआ है तो वह अन्य अर्थ से हटाकर खुदके अर्थमें ले जाता है। जैसे जब कहा कि जीव

http://www.jainkosh.org

ही तो मायने अजीव नहीं, किन्तु जीव ही याने 'ही' शब्द अस्व अर्थका व्यवच्छेदक है याने उस पदका जो अर्थ नहीं है उन अर्थोंको दूर करता है। तो जैसे मोटे रूपमें कोई पद अपने वाच्य अर्थको ही ग्रहण करता, अन्य अर्थको ग्रहण नहीं करता, इसी प्रकार सुख, ज्ञान, आदिक अपनी पर्यायोंको इन सभीको अलग करता है याने शब्दमें जो अर्थ भरा है सिर्फ उसी विशेषको वह ग्रहण करता है और उसके अतिरिक्त अन्य सब विशेषोंका निराकरण करता है, ऐसा शब्दमें स्वभाव पड़ा है, यदि ऐसा शब्द स्वभाव न माना जाय तो एक ही पदसे दुनियाको समस्त पदार्थोंका बोध हो जाना चाहिए, फिर अलग अलग बताकर क्यों किया जाता ? जैसे कि मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, चेतन हूं, अचेतन हूं, ये इतने पद क्यों बताये गए ? इतने पद यों बताये गए कि यह पद केवल अपने स्वार्थको ही ग्रहण करता, अन्य अर्थको ग्रहण नहीं करता।

(१४४) वस्तुके सामान्यविशेषात्मकत्वकी व पदसे सामान्यविशेषात्मक अर्थके विशेषान्तरकी सिद्धि—

प्रकरण यह चल रहा है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। वहाँ सामान्यमें विशेष निष्ठ है, विशेषमें सामान्य निष्ठ है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अगर विशेषमें सामान्य नित्य हो तो विशेषका अभाव होनेपर सामान्यका अभाव हो जायगा और इससे फिर उन स्वभावी पर्यायोंका भी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अभाव हो जायगा, शक्तियोंका भी अभाव हो जायगा याने जीव शब्दसे कुछ अभिधेय नहीं बना, क्योंकि जीव पदार्थकी भी हानि हो गई, इससे विशेष सामान्यमें निष्ठ होता है यह कहना भला है। अब यहाँ शङ्काकार कहता है कि जैसे जीव शब्द बोला, उसमें 'ही' लगाकर भी बोल लीजिए तो जीव 'ही' ऐसा शब्द बोलनेपर जीवका जो प्रतियोग अजीव है उसका तो व्यवच्छेद हो जायगा, मगर जीवमें ही रहने वाली जो पर्याय है, सामान्य विशेष तत्त्व है वह तो जीवकी अप्रतियोगी याने जीव पदार्थमें विरोध नहीं है उनका व्यवच्छेद कैसे हो जायगा? हाँ वह पदार्थ, वह पर्याय गुण आदिक अविवक्षित है।

(१४५) शंकाकारकी सामान्यविशेषात्मक अर्थके विशेषान्तरकी सिद्धि रूपमें शंकाका समाधान—

समाधान करते हैं कि यदि शङ्काकार दोनोंके भावमें आ गया तो यह उचित ही है, इससे तो स्याद्वादका अनुसरण होता है और एकांत मतकी हानि होती है। निष्कर्ष यह है कि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, और जब कोई वर्ण समान रूप पद बोला जाता है तो द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष इन सबमें से किसी एकका प्रधान रूपसे अर्थ आता है और दूसरेकी उससे स्वीकृति बनी रहती है, क्योंकि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक ही होता है, इसलिए उसमें से एकका ही

बोध हो और अन्य सब विशेषोंकी असिद्धि हो तो वह अवस्तु ठहरेगी, ऐसा कोई सत् होता ही नहीं है। तो इससे पद सामान्यविशेष पदका ही बोधक होता है।

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि।
पर्यायभावेऽन्यतरप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥ ४२ ॥

(१४६) एवकाररहित पदकी अनुक्ततुल्यता—

जिस पदके साथ 'ही' न लगा हो वह पद तो कहा हुआ भी न कहनेके समान है, क्योंकि उस पदसे जिसमें कि 'ही' नहीं लगा, यद्यपि कर्ता और क्रिया विषयक दोनों नियम इष्ट हैं, फिर भी प्रतिपक्षकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती याने निश्चयपूर्वक कोई बात न कही जानेपर प्रतिपक्षकी निवृत्ति नहीं बनती। यहाँ यह बात और समझना कि कोई पदके साथ 'ही' न भी लगाये तो भी उसके मनमें 'ही' का अर्थ लगा रहता है, क्योंकि जो जानकारी है और शब्द बोल रहा है तो उसके मनमें यह भाव है कि इस शब्दका यह ही अर्थ है, अन्य कोई अर्थ नहीं है। सो जो कोई शब्द बोलता है और कदाचित् 'ही' न लगाये तो उसके मनमें 'ही' का भाव रहता ही है। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि शब्दपदके साथ 'ही' का प्रयोग हुआ ही करता है। और तब ही स्याद्वाद

Report any errors at vikasnd@gmail.com

के ७ भंगोंमें प्रत्येक भङ्गमें 'ही' का प्रयोग रहता है। 'ही' का प्रयोग करनेपर भी वह एकान्त क्यों नहीं कहलाता कि उस पदके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग भी रहता है। जिसका अर्थ है कि इस अपेक्षासे यह पदार्थ ऐसा ही है, उसमें धर्मका निर्णय है और दृष्टिका भी निर्णय है। यदि पदके साथ 'ही' का प्रयोग न हो अथवा 'ही' का भाव न हो तो सभी पद परस्पर पर्यायवाची कहलाने लगेंगे, चाहे कई शब्द बोल दिये जायें वे सब पर्यायवाची होंगे। जैसे कि सत्ताद्वैतवादमें कोई भी शब्द किसी भी शब्दका व्यवच्छेदक नहीं है। सभी शब्द सभीके पर्यायवाची माने गए हैं, क्योंकि सत्ताद्वैत है, शब्दों द्वारा कुछ दूसरी चीज नहीं बोली जाती, वही सत्ताका ही ज्ञान होता है। तो ऐसे ही पदके साथ अगर 'ही' शब्द न लगे तो वह पद शब्दोंका पर्यायवाची कहलायेगा और जब पद सभी पदोंका पर्यायवाची बन गया तो अटपट किसी भी शब्दका पदका प्रयोग कर लिया जाय तो उसमें विवेक करने की जरूरत भी नहीं, और पद द्वारा भी किसीका भी बोध कर ले वह प्रतिपक्षसे रहित तो हो न पायगा। और यह भी प्रतियोगीसे रहित नही है, वह अपना स्वरूप भी खो बैठता है।

(१४७) एवकाररहित पदकी अनुक्ततुल्यताकी उदाहरण द्वारा स्पष्टता—

http://www.jainkosh.org

जैसे "चौकी" कहा जायगा तो इसका अर्थ यह निकला कि यह चौकी ही है, दरी, चटाई आदिक अन्य कुछ नहीं है। अगर यह चौकी प्रतियोगीसे रहित न हो याने दरी, चटाई आदिक भी यह बन जाय तो फिर चौकी ही क्या रही। फिर तो उसका स्वरूप ही नहीं रह पाता, और ऐसी स्थितिमें कोई शब्द पद सही अभिधेयको नहीं बता सकता है।

(१४८) उदाहरणपूर्वक पदोंकी अस्वार्थव्यवच्छेदकता—

पदोंकी अस्वार्थव्यवच्छेदकताके समर्थनमें प्रसिद्ध उदाहरण ले लीजिए—जैसे कहा कि "स्यात् जीवः नित्य अस्ति" द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है, तो भले ही यहाँ एक जगह एव लगा, मगर एवकी ध्वनि, प्रकाश सब पदके साथ है। द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है, तो जीव नित्य है द्रव्यदृष्टिसे ही। द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य ही है, द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है ही। कहीं भी 'ही' शब्द लगा लीजिए पदका स्वरूप है यह कि वह अन्यका व्यवच्छेदक होता है। अब यहाँ मानो जीवके साथ एव लगा दें—जीव एव अस्ति, जीव ही है तब तो अर्थ सही बन गया कि यह जीव ही है, अजीव नहीं है, चौकी है, अचौकी नहीं है, और यदि पदके साथ 'ही' शब्द न लगाया जाय तो उसका आधारण ही न बनेगा। जीवके साथ एव नहीं है तो वह अजीवका ही वाचक बन गया, फिर जीव रहा क्या? अस्तिके साथ एव नहीं है तो उसका अर्थ नास्ति बन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गया। तो रहा ही क्या ? सो यों जितने भी पद होते हैं सबके साथ एवका अभिप्राय है तो वह पद अपने अर्थका वाचक है, अन्य अर्थका नहीं। तो इस प्रकार अगर पदके साथ ही न लगे या अभिप्रायमें न हो तो उसका कहना न कहनेके बराबर ही है, क्योंकि उसका कुछ अर्थ न निकल सका। तो ऐसे ही जितने भी शब्द बोले जाते हैं उन सभी शब्दोंके साथ 'ही' का भाव रहता है। 'ही' का भाव न होनेसे वह अपने प्रतिपक्षसे रहित नहीं बन सकता और कोई भी अर्थ अगर सभी अर्थों-स्वरूप हो गया तो उसका अस्तित्व ही नहीं ठहरता, क्योंकि पररूपका अगर त्याग नहीं है तो स्वरूपका ग्रहण नहीं बन सकता।

(१४९) पदोंकी अस्वार्थ व्यवच्छेदकताका एक और उदाहरण—

जैसे कोई घड़ा है तो घड़ेका आकार तब ही तो है जब घड़ेको छोड़कर अन्य सब पदार्थोंका आकार वहाँ नहीं है। तो अघटरूपके त्याग बिना घटके स्वरूपकी कोई प्रतिष्ठा नहीं बनती, ऐसे ही सभी शब्दोंमें एवकी ध्वनि समझनी चाहिए, क्योंकि वस्तुका वस्तुत्व तब ही है जब कि वह अपने स्वरूपको ग्रहण करे और पररूपको त्यागे रहे, तब ही तो वस्तु अपने स्वरूपसे है, पररूपसे नहीं है। जब पररूपसे देखा तो वही अवस्तु बन गई। इससे कोई बिना केवल सामान्य

वाला या केवल विशेष वाला नहीं है याने सभी पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं तो जितने शब्द बोले जायें, जो भी पद बोला जाय वह सामान्यविशेषात्मक अर्थको ही व्यवक्षावश, शब्द प्रयोगवश किसी धर्मको प्रधान रूपसे प्रकाशित करता है।

> विरोधि चा भेद्यविशेषभावात्-
> तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः।
> विपाद्यसन्धिश्च तथाऽङ्गभावाद-
> वाच्यताश्रायस लोप हेतुः ॥४३॥

(१५०) सत्ताद्वैतवादी व शून्यवादीकी स्वपक्ष समर्थनार्थ प्रस्ताव व उसका निर्णय—

अब यहाँ सत्ताद्वैतवादी अथवा सर्वथा शून्यवादी कह रहे हैं कि सर्वथा अभेदका आलम्बन लेकर शब्दोंका प्रयोग होता है। चाहे अस्तिका प्रयोग करे तो वह नास्तिसे भिन्न नहीं है चाहे नास्तिका प्रयोग करे तो वह अस्तिसे भिन्न नहीं है और ऐसा एक पदका अभिधेय अपने प्रतियोगी पदके वाच्यसे च्युत नहीं है तो अभिधेयका वाच्यमें पदार्थका कोई स्वरूप नहीं रहता और उनके उस शब्दने अभिधेयको कहाँ जोड़ा ? अपनेका भी उसने ग्रहण कराया और अपने प्रतियोगीका भी ग्रहण कराया। तो अभिधेय तो सबमें बन गया। उस पदको स्वरूपहीन कैसे कहा जा रहा ? इसके समाधानमें कहते हैं कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

यह कथन स्ववचन विरोधी है। जब यह माना जा रहा है कि पद अपने प्रतियोगीका भी वाचक है तो फिर स्वार्थका वाचक भी कहाँ रहा ? जब एक पद जगतके सभी पदार्थोंका वाचक है तो एक वस्तुका बोध करा देने वाला कोई शब्द ही नहीं रह सकता इससे तो पदोंका अभिधेय स्वरूपाहीन बन गया सो तो है ही, किन्तु वह विरोधी भी बन गया, क्योंकि पदने अपने अर्थको और विरुद्ध अर्थको दोनोंको ही कह डाला। ये सत्ताद्वैतवादी यह कहते हैं कि अस्ति शब्द बोला तो उसका अभिधेय अस्तित्व है और अस्तिका प्रतियोगी पद है नास्ति, उसका अभिधेय नास्तित्व है, पर अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों अभिन्न है क्योंकि सत्ताद्वैतके सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं माना गया है, तो अभिधान और अभिधेय दोनोंका विरोध वहाँ घटित नहीं हो सकता अथवा दोनों ही घटित नहीं हो सकते, क्योंकि अस्तिका दूसरा अर्थ, नास्तिका दूसरा अर्थ। एक पदसे दोनोंमें अभेद मान लिया तो यह घटित हो ही नहीं सकता।

(१५१) अनादि अविद्या वश भेदसद्भाव मानकर दोषनिवृत्ति करनेका शङ्काकारका विफल प्रयास—

शङ्काकार कहता है कि भाई पदार्थोंमें भेद तो परमार्थसे जरा भी नहीं है मगर अनादिकालीन अविद्याके कारण उनमें भेदका भ्रम हो गया है इससे अभिधेय इनका

http://www.jainkosh.org

अलग-अलग है। तो शङ्काकारका यह कहना भी यों संगत नहीं कि अगर अविद्याके वशसे ही भेद है और स्वरूपतः उनमें भेद नहीं है तो विद्या और अविद्यामें भी भेद नहीं बन सकता परमार्थसे तो अविद्या ही सिद्ध नहीं हो सकती, फिर अविद्यासे भेदका भ्रम कहना यह कैसे बन सकेगा ? और विद्या और अविद्याका यदि भेद माना जाता कि अविद्यासे तो भ्रम हुआ और विद्यासे परमार्थ जाना तो विद्या अविद्याका द्वैत तो बन गया। फिर सत्ताद्वैत सिद्धान्त नहीं बन सकता। इससे सत्ताद्वैतवादियोंका यह कहना कि अस्तित्वसे नास्तित्व अभेदी है याने उन दोनोंका भेद नहीं है तो जब भेद न रहा अस्ति नास्तिमें तो फिर वस्तुस्वरूप ही कुछ न रहा। किन्तु जब भेदका सर्वथा अभाव है तो अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनो भेदोंका भी अभाव रहा। जब अस्तित्व नास्तित्व रहा ही नहीं तो अभेद कैसे माना जाय ? यदि कोई यह कहता है कि अस्तित्त्व नास्तित्वसे अभेदी है याने उसको भिन्न करने वाला नहीं है तो उसके कहनेमें ही दो बातें आ गई कि अस्तित्त्व कोई वस्तु है। नास्तित्व भी कोई अभिधेय है और उन दोनोमें कुछ बताया जा रहा है, क्योंकि कथञ्चित् भी अगर भेद न माना जाय तो भेदका प्रतिषेध करना या अभेदको भेदका अभेदी कहना, अस्तित्त्वको नास्तित्त्वका अभेदी कहना यह सब विरुद्ध पड़ जायगा क्योंकि जब कुछ भेद ही नहीं है तो भेद

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अभेदका व्यवहार भी कैसे बन सकता है ?

(१५२) शब्दभेद व विकल्पभेदके कारण हुए भेदिप्रतिषेध बताकर दोषनिवृत्ति करनेका पुनः विफल प्रयास—

यहाँ शङ्काकार कहता है कि पदार्थमें परमार्थतः तो भेद नहीं है, मगर शब्दभेद जो चल रहे हैं और विकल्प-भेद जो चल रहे हैं उनसे भेदी होने वालेका जो प्रतिषेध है वह उनके स्वरूपभेदका प्रतिषेध है याने चूंकि शब्द निराले-निराले हैं और विकल्प जब भिन्न-भिन्न हो रहे हैं तो पदार्थ में भेद बन गया, पर उन भेदोंका जो प्रतिषेध है उसीके मायने तो हुआ कि स्वरूपभेद नहीं है। इसके समाधानमें कहते हैं कि इस तरहकी युक्ति देनेपर कमसे कम शब्द और विकल्पका तो भेद मान लिया और सिद्धान्तकी ओरसे भेद यह स्वयं चाहता नहीं। तो जब संज्ञा भेद है तो संज्ञाके द्वारा वाच्य जो संज्ञी है पदार्थ है, उसके भेद कैसे दूर किए जा सकते हैं ? और ऐसी स्थितिमें द्वैत, अनेक पदार्थोंके अस्तित्वमें स्वयं सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि संज्ञीका प्रतिषेध, पदार्थका प्रतिषेध, पदार्थका अस्तित्व न हो तो कैसे किया जाय ? कहीं असद्भूत वस्तुका भी प्रतिषेध किया जाता क्या ?

(१५३) परमान्यताके माध्यमसे भेद मानकर दोषनिवृत्ति करनेका शंकाकारका विफल प्रयास—

इस प्रसङ्गमें शङ्काकार कहता है कि हम भेद

नहीं मानते, किन्तु दूसरे लोग भेद मानते हैं और उनके भेद माननेसे शब्द और विकल्पमें भेद बन जाते हैं। तो अब उनकी ओरसे भेदकी बात कहनेमें दोष नहीं है। इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि सत्ताद्वैतके मंतव्यमें जब स्व और पर का भेद ही नहीं रहता तब दूसरे मानते हैं यह बात कही ही कैसे जा सकती है ? दूसरी सिद्धि ही नहीं है शंकाकारके मंतव्य के अनुसार। तो जब दूसरे मानते हैं यह हेतु ही सिद्ध नहीं तो साध्यकी सिद्धि कैसे बने याने भेद कर देनेकी सिद्धि कैसे बने ? शंकाकार कहता है कि ऐन मौकेकी बात तो नहीं है, पर विचारसे पहले तो स्व और परका भेद प्रसिद्ध ही था। उसका भी उत्तर बहुत सीधा यह है कि अद्वैतके मंतव्यमें जैसे स्व और परका भेद नहीं है, ऐसे ही पूर्वकाल और पश्चात्-कालका भी भेद सिद्ध नहीं होता। विचारसे पहले दिमागमें भेद था, विचार करनेपर भेद न रहा। तो भेदका पूर्वकाल और उत्तरकाल—ये दो भेद कहाँसे आ गए ? और अगर आते हैं तो अद्वैत न रहा, कालका भेद हो गया। निष्कर्ष यह है कि सत्ताद्वैतवादी जो यह कह रहे थे कि सर्वथा भेद है ही नहीं, सब वचन अभेदी होते हैं तो यह विरोधकी बात बन जाती है और इसमें वस्तुका स्वरूप ही नहीं रहता।

(१५४) सत्ताद्वैतवादमें अस्तित्वसे नास्तित्वको अभेदी कहनेकी मान्यता, किन्तु शून्याद्वैतवादमें नास्तित्वसे अस्तित्व

Report any errors at vikasnd@gmail.com

को अभेदी कहनेकी मान्यता तथा उसका निराकरण—

सत्ताद्वैतवादी जैसे अस्तित्वसे नास्तित्वको अभेदी बतलाते हैं। उनके ये कथन विरोधपूर्ण हैं, दूषित हैं, सत्ताद्वैतवादी और शून्याद्वैतवादीके वचनप्रयोगमें यह अन्तर समझना जिससे अन्तः रहस्य भी ज्ञात होता, सत्ताद्वैतवादी तो अस्तित्वको नास्तित्वसे अभेदी कहते। उन्होंने अस्तित्वको तो पहले रखा और उन्हें माना और नास्तित्वको अभेदी बनाया अपना अद्वैतवाद कायम रखनेके लिए। और शून्याद्वैतवादी कहते हैं कि नास्तित्वसे अस्तित्वका अभेदी है। उन्होंने नास्तित्वको तो पहले रखा, क्योंकि उनका शून्य तत्त्व है और वह नास्तित्वसे ही सिद्ध होता है। और उस नास्तित्वसे अभेदी अस्तित्वको कहते हैं। अब जरा स्याद्वादशासनकी ओर इनका निर्णय देखिये—यह तो निश्चित है कि अस्तित्वका विरुद्ध नास्तित्व है और दोनों विरुद्ध धर्मोंकी स्याद्वादसे एक वस्तुमें सिद्धि की गई है। अनेकान्त इसीका ही नाम है कि परस्पर विरुद्ध वस्तु धर्मको एक धर्मीमें प्रसिद्ध करना। शंकाकारको यहाँ यह पता है स्याद्वादके प्रति कि अस्ति पदके साथ एक लगाया तो उससे नास्तित्वका अभाव हो गया। और एव शब्द साथमें न लगाये, उसका आशय ही न हो तो उसका कहना अशक्य ठहरता है। उसे बताया है अनुक्ततुल्य याने कहा हुआ भी न कहेके समान। तो अब कोई दूसरा उपाय

तो रहा ही नहीं। केवल अवक्तव्य ही है, ऐसा कह दो, तो आगे यही युक्त है कि अभिधेय सर्वथा अवक्तव्य ही है। उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस विरोधी धर्मका घातक 'स्यात्' शब्द रखा गया है जिससे प्रयुक्त धर्मको मुख्य सिद्ध किया जाता और अप्रयुक्त विरुद्ध धर्मका भी अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाता, पर उस सम्बंधमें प्रयोग नहीं है। तो स्याद्वाद शासनमें शब्दके द्वारा किसी एकको मुख्य जाना गया और विरुद्ध धर्मको जो कि उसमें अप्रतियोगी है उसे गौणरूप समझा गया। इस तरह स्याद्वादशासनमें एक पद अन्य विरुद्ध अर्थका तो व्यवच्छेदी है, पर अपने ही वाच्य अर्थमें रहने वाले विशेषोंका व्यवच्छेदक नहीं है। उन विशेषोंमें से किसीको प्रधानरूपसे कहते हैं, शेषको गौणरूपसे कहते हैं।

(१५५) स्यात् और एव शब्दकी प्रति वाक्यमें महिमा का सोदाहरण विवरण—

जैसे कि स्याद्वादके भंगोंमें स्यात् पद और एव शब्द साथ लगा रहता है, इसी प्रकार सभी शब्दोंमें चाहे स्यात् और एव शब्द बोले जायें या न बोले जायें सभीके साथ स्यात् और एवका आशय रहता है। तो जैसे कहा—'स्यात् जीवः अस्ति तो 'स्यात्' शब्द बोलनेसे स्वरूपदृष्टि तो मुख्य हुई, पर उसके विपक्षभूत पररूपसे नहीं है, ऐसा संयोजन उसके साथ लगा हुआ है याने अस्तित्वके साथ परके नास्तित्व

http://sahjanandvarnishastra.org/

का विरोध नहीं है, बल्कि दोनोंमें परस्पर साधकता है और इसी कारण स्यात् पद इन दोनों भंगोंको जोड़ने वाला है। तो सर्वथा बात सब जगह अहितकर है इस प्रकार कोई सर्वथा तत्त्वको अवक्तव्य कहे तो वह भी मोक्षके लोपका कारण है। वहाँ आत्महितकी बात नहीं बन सकती, इसका कारण यह है कि जब तत्त्व सर्वथा अवाच्य है, न तो उपेयके सम्बंधमें बात कही जा सकती। तो जब उपेय तत्त्वका उपदेश न बना और उपायका भी उपदेश न बना तो मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? और जब मोक्षमार्गका उपाय न बन सका तो मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? तो सर्वथा अवक्तव्य कहना भी मोक्षपदके लोपका कारण है। इससे स्यात् पदसे सहित एव लगा हो किसी भी धर्मके समर्थनमें तो वह अर्थवान है, सर्वथावादमें पदका कोई अर्थ ही नहीं बन सकता है।

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः।
इति त्वदीया जिननाग! दृष्टिः
पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥ ४४ ॥

(१५६) प्रतिपदके साथ स्यात् और एव शब्दकी प्रतिज्ञा का आशय—

शब्दपदके साथ स्यात् और एव लगा ही रहता है, ऐसे वर्णनके प्रसंगमें एक प्रश्न यह हो जाता है कि लोग

तो अनेक शब्द और पद बोलते हैं, मगर उनके सब पदोंमें स्यात् और 'ही' का प्रयोग नहीं देखा जाता। तब फिर यह कहना कैसे युक्त है कि पदके साथ स्यात् शब्द लगा हो और एव शब्द लगा हो तब ही वह पद अर्थका वाचक होता है। इस शंकाका उत्तर यह है कि शास्त्रमें या लोकव्यवहारमें जहाँ स्यात् पदका प्रयोग नहीं है, क्योंकि हर एक शब्दके साथ स्यात् कौन लगाता है? तो उसका कारण यह है कि उनके आशयमें स्यात् बना हुआ है और सभी मनुष्य वचन व्यवहार करते हैं और सब समझते हैं तो सभीके अभिप्रायमें स्यात् पद का प्रयोग रहता है। उनकी प्रतिज्ञाका आशय ही यह है याने बोलने वालेके अभिप्रायमें स्यात्‌का आशय समाया हुआ है, परन्तु शास्त्रकारोंने उसका हर जगह प्रयोग नहीं किया। तो समझना चाहिए कि उनके उन सभी प्रयोगोंमें आशय ही अपेक्षाका बना हुआ है अथवा जो स्याद्वादशासनका आश्रय करता है वह स्यात् पदका आश्रय लिए बिना स्याद्वादी बन नहीं सकता और स्यात्‌के प्रयोग बिना अनेकान्तकी सिद्धि भी घटित नहीं होती। जैसे शब्दके साथ 'ही' न लगाया जाय तो सम्यक् एकान्तकी सिद्धि नहीं होती।

(१५७) प्रतिपदके साथ स्यात् और एव शब्दकी प्रतिज्ञा के आशयकी सोदाहरण स्पष्टता—

जैसे किसीने कहा कि सोहन मोहनका पुत्र ही है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तो एक पुत्रत्व धर्मकी सही सिद्धि बनी अपेक्षा और 'ही' लगने से। तो स्याद्वादी होना ही इस बातको सूचित करता है कि उनका आश्रय प्रत्येक पदके साथ स्यात् शब्दके प्रयोगका है। भले ही सर्व प्रयोगमें स्यात् शब्द लगा हुआ नहीं होता, मगर स्यात् शब्दको समझना एक पदप्रयोगकी सामर्थ्य है। जैसे यह कहा कि जीव अपने स्वरूपसे है तो स्वरूपसे इतना कह दिया उसीके मायने स्यात् शब्दका प्रयोग है और कहीं ऐसा कह दिया जाय कि जीव किसी अपेक्षासे सत् है तो वहाँ स्वरूपकी अपेक्षा यह बात ले ली जाती है और कहीं कोई यह ही कहे कि जीव है तो इसमें भी अपेक्षा ली जाती है। स्वरूपसे जीव है ऐसा कहनेपर कहीं यह अपेक्षा नहीं बनती कि जीव पररूपसे है वस्तु तत्त्वके समझने वाले पदका प्रयोग सुनकर ही स्यात् और एवका सम्बन्ध समझ लेते हैं, इसी तरह लोकमें भी देखिये—कोई भी शब्द बोला जाय तो उनमें 'अपेक्षा' और 'ही' का अर्थ भरा हुआ ही रहता है। इस प्रकार हे जिनेन्द्रदेव ! आपकी दृष्टि नागदृष्टि कहलाती है अर्थात् सब तरफका देखते रहना, यह आपके शासनमें एक विशेष बात है और इसी कारण आपका शासन एकान्तवादियोंके द्वारा बाधित नहीं होता और एकान्तवादको आपका शासन निराकृत कर देता है। यों जैसे सप्तभङ्गीके प्रयोगमें स्यात् और एव शब्द लगाते हैं, इसी प्रकार लोकव्यवहारमें भी सभी पदोंके

http://www.jainkosh.org

साथ स्यात् और एवका आशय बना हुआ ही रहता है।

> विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
> त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव।
> त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
> स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥ ४५ ॥

(१५८) सप्त भंगोंका दर्शन—

इस छन्दमें सप्तभंगीकी योजना बनायी है। स्वतंत्र धर्म तीन हैं——१– विधि, २– निषेध और ३– अवाच्य। जैसे स्यात् अस्ति एव, यह प्रथम भंग है। स्यात् नास्ति एव, यह द्वितीय भंग है और स्यात् अवक्तव्य एव, यह तृतीय भंग है। ये तीन मूल विकल्प हैं। अब इनके विपक्षीभूत जो अन्य धर्म हैं उनकी संयोजना करके द्विसंयोगी विकल्प तीन बनते हैं याने इन विकल्पोंसहित ६ भंग हो जाते हैं। चौथा भंग है स्यात् अस्ति नास्ति एव, ५वाँ भंग है स्यात् अस्ति अवक्तव्यं एव, छठा भंग है स्यात् नास्ति अवक्तव्यं एव। इसके आगे उन तीन मूल विकल्पोंका संयोग करनेपर एक भंग और बना है जो कि ७वाँ भंग है। वह है स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्यं एव। इस प्रकार हे वीर जिनेन्द्र ! ये ७ विकल्प सम्पूर्ण अर्थभेदमें घटित होते हैं वाले जीव अजीवादिक सभी तत्त्वार्थोंकी पर्यायमें ये ७ भंग आपके शासनमें घटित होते हैं। एकांतवाद शासनमें ये समस्त अपेक्षायें और धर्म घटित नहीं हो पाते।

Version 1

और इन ७ भंगोंमें जो भी धर्म बताया है वे स्यात् शब्दके द्वारा समझ लिए जाते हैं अर्थात् भले ही कोई एक ही विकल्प बोलता है, पर उसके साथ स्यात् शब्दका प्रयोग होनेसे बाकी ६ विकल्पोंको विवेकी पुरुष समझ लेते हैं और फिर विवेकी और अभ्यस्त पुरुषोंको ६ विकल्पोंके प्रयोगकी जरूरत नहीं रहती, क्योंकि स्यात् पदके साथ रहनेसे उनके अर्थ विषयमें विवाद नहीं रहता। वहाँ कहीं विवाद हो वहाँ इनका क्रमसे प्रयोग करनेमें भी दोष नहीं अर्थात् अनभ्यस्त पुरुषोंके प्रति तो ७ भंगोंका प्रयोग किया जाता है, पर प्रतिपन्न व्यक्तियोंको एक ही धर्मके प्रयोगसे सभी भंगोंका ज्ञान हो जाता है। तब ही तो बतलाया है कि परिणमनके वशसे एक वस्तुमें अविरुद्ध रूपसे विधि निषेधकी जो कल्पना है उस ही का नाम सप्तभंगी है। शिष्यजन अनेक प्रकारके होते हैं—कोई विशेष समझदार कोई कम जानकार, इसलिए कहीं ७ भंगोंका प्रयोग करना भी उचित है और कहीं एक भंगके प्रयोगसे ही वे सर्व बातोंको समझ लेते हैं।

स्यादित्यपि स्याद्गुणमुख्य-
कल्पैकान्तोयथोपाधिविशेषवीक्ष्यः।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेष रूपं द्विधा
भवार्थव्यवहारवत्त्वात् ॥ ४६ ॥

(१५६) स्यात् शब्दसे गौण प्रधान स्वभावों द्वारा

विज्ञात सम्यक् एकान्तोंका बोध—

स्यात् इस शब्दका प्रयोग भी गुण और मुख्य स्वभावके द्वारा कल्पित किए हुए एकान्तोंको लेकर होता है, याने जितने भी एकान्त हैं नयोंकी मुख्यतासे जो जो भी अभिधेय हैं उन अभिधेयोंमें कोई प्रधान है तो शेष अप्रधान हैं। शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी प्रधानतासे जब अस्तित्वका एकान्त मुख्य बनता है तो शेष नास्तित्व आदिक एकान्त गौण हो जाते हैं क्योंकि जिनका प्रयोग किया है वे प्रधानभावसे विवक्षित हैं पर शेषधर्म यद्यपि प्रधान भावसे विवक्षित नहीं है, फिर भी उनका निराकरण नहीं किया जा सकता। वस्तुतः ऐसा अस्तित्व कहीं न पाया जायगा जो नास्तित्व आदिक धर्मोंकी अपेक्षा नहीं रखता। बहुत ही स्पष्ट बात है। जैसे कि यह चौकी तब ही चौकी कहला सकती है जब चौकीसे अलग जो पदार्थ हैं वे चौकीमें नहीं हैं, यह मान लिया जाय। स्यात् शब्द प्रधान और गौण रूपसे सभी धर्मोंका प्रकाशन करता है। जिस पद अथवा धर्मके साथ स्यात् शब्द प्रयुक्त होता है उसे तो प्रधान कहा गया है और शेष पदार्थ अथवा धर्मोंको गौण बताया गया है। व्यवहारनयकी प्रधानतासे जब नास्तित्व एकान्त मुख्य है तो वहाँ अस्तित्व एकान्त गौण समझना चाहिए, क्योंकि जिसका प्रयोग है वह प्रधानरूपसे विवक्षित है और शेष धर्म गौणरूपसे कहे गए समझे जाते हैं। इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

प्रकार नयोंका प्रयोग नयसापेक्ष होता है तब ही वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी सिद्धि होती है, पर विशेषणानुसार विशेषका द्योतक होता है।

(१६०) किसी पुरुषसे भी मनमें आशंका न रखनेका अनुरोध—

यहाँ कोई पुरुष ऐसी आशंका मनमें न रखे कि फिर तो जीवादिक तत्त्व भी प्रधान और गौण रूपसे एकान्त को प्राप्त हो जायेंगे। यह शंका यों उचित नहीं है कि तत्त्व तो अनेकान्तात्मक है और वह अनेकान्त भी अनेकान्त रूप है, एकान्तरूप नहीं है। एकान्त तो उसे नयकी अपेक्षासे कहा गया है। प्रमाणकी अपेक्षासे एक बात बोलकर भी एकान्त नहीं कहलाता, क्योंकि प्रमाण समस्त धर्मोंका ग्रहण करने वाला होता है। एक धर्मको ही ग्रहण करे वह नयका विषय है, सो जब नय सापेक्ष होता है तो उन नयोंमें भी मिथ्यापन नहीं होता, इस प्रकार तत्त्व दो प्रकारसे व्यवस्थित हुए—एक द्रव्यरूप जिसे कि विधि कहें, सत्‌रूप कहें, दूसरे व्यवहाररूप या पर्यायरूप कहें, असत् कहें, गौण कहें, प्रतिषेध कहें, ऐसी दो प्रकारकी विवक्षायें होती हैं, और जो कुछ भी कहा जाय वह सब इन दो के अन्तर्भूत होता है।

न द्रव्यपर्याय पृथग्व्यवस्था
द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम्।

http://www.jainkosh.org

धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥ ४७ ॥

(१६१) सर्वथा पृथक् द्रव्य या पर्यायकी असंभवता—

सर्वथावादकी कोई प्रतिष्ठा नहीं, है, क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायोंसे रहित द्रव्यमात्र कोई तत्त्व कहा तो वह प्रमाणका विषय नहीं है, याने पर्यायशून्य द्रव्य किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा पर्यायकी भी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। क्योंकि द्रव्यशून्य पर्याय किसी प्रमाणका विषय ही नहीं है। अर्थात् न तो द्रव्यशून्य पर्याय होता है और न पर्यायशून्य द्रव्य होता है। द्रव्यपर्यायात्मक पदार्थ है और उस ही पदार्थ को कभी द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे कहा जाता और कभी पर्यायकी मुख्यतासे कहा जाता, पर कहा जाता है द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को ही। तो जैसे द्रव्यशून्य पर्याय नहीं पर्यायशून्य द्रव्य नहीं ऐसे ही परस्पर निरपेक्ष द्रव्य भी नहीं, पर्याय भी नहीं। कोई दार्शनिक माने तो दोनों को ही द्रव्यको भी पर्यायको भी मगर कोई द्रव्य है कोई पर्याय है, एक वस्तुमें दोनोंका दर्शन नहीं है तो ऐसे द्रव्य भी नहीं है और पर्याय भी नहीं है, क्योंकि परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और पर्यायको सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है। तो इस प्रकार तीन प्रकारके दर्शन युक्त नहीं कि कोई द्रव्यमात्रको माने, कोई पर्यायमात्रको माने और कोई अलग-अलग द्रव्य पर्यायमात्रको माने। ये सब क्यों विरुद्ध

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पड़ते हैं कि जो द्रव्यकी प्रतीतिका हेतु है और जो पर्यायकी प्रतीतिका निमित्त है वे दोनों जुदे नहीं हैं। क्योंकि अभिन्नका भिन्न तत्त्वके साथ एकत्व नहीं होता। तो परस्पर निरपेक्ष दोनों मानना भी विरुद्ध वचन है। जो विवेकी पुरुष है वह प्रमाणको स्वीकार करता हुआ एक वस्तुके दो भिन्न परमाणुओंकी विवक्षा नहीं करता। सो न केवल द्रव्य मात्र तत्त्व है न केवल पर्यायमात्र तत्त्व है और इसी तरह न केवल परस्पर निरपेक्ष द्रव्य और पर्याय उभय रूप तत्त्व है।

(१६२) वीतराग प्रभुके शासनमें द्रव्य और पर्याय का स्थान—

हे वीर जिनेन्द्र ! आपके स्याद्वाद शासनमें ये द्रव्य और पर्याय दोनों ही कथञ्चित् रूपसे तीन तरह कहे जा सकते भिन्न, अभिन्न और भिन्नाभिन्न विवक्षावशसे तीनों ही प्रकारकी सिद्धि होती है। यदि सर्वथा द्रव्य और पर्यायको भिन्न-भिन्न ही माना जाय तो उसमें भी पदार्थकी सिद्धि नहीं है, इसी प्रकार द्रव्य और पर्यायको सर्वथा अभिन्न माना जाय तो भी वस्तुकी सिद्धि नहीं बनती और निरपेक्ष रूपसे इन दोनोंको माना जाय तो भी सिद्धि नहीं बनती। इस कारण स्याद्वाद सहित जो वाक्य है वह अनेकान्तात्मक पदार्थको ग्रहण करता है। पद न तो धर्ममात्रका प्रतिपादक है न धर्मी मात्रका प्रतिपादक है, वह अनेकान्त वस्तुका प्रतिपादक है।

तो जो दर्शन द्रव्य एकान्तको लेकर अपना मंतव्य बनाते हैं, जो पर्याय एकान्तका आश्रय रखकर मंतव्य बनाते हैं, जो परस्पर निरपेक्ष द्रव्यपर्यायकी एकान्त व्यवस्था बनाते हैं उनके यहाँ युक्तिपूर्वक अनुशासन घटित नहीं होता। इसी कारण एकान्तवादके दर्शनसे मोक्ष और मोक्ष मार्गकी व्यवस्था नहीं बनती।

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।
प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्म-
तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥ ४८ ॥

(१६३) प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक अर्थके प्ररूपणकी युक्त्यनुशासनता—

प्रत्यक्ष और आगमसे जिसमें बाधा नहीं आती, ऐसे अर्थका जो वास्तविक निरूपण है उस ही का नाम युक्त्यनुशासन है और यही युक्त्यनुशासन हे वीर जिनेन्द्र ! आपको अभिमत है। सारांश यह है कि वस्तुतत्त्व जो सही होता है वही प्रत्यक्षसे ग्रहणमें आता है और वही आगममें लिखा हुआ मिलता है, क्योंकि आगम आप्त पुरुषके मूलसे प्रकट हुआ भगवान जिनेन्द्रदेवकी दिव्यध्वनिमें जो खिरा है उसे गणधर देवने झेला। गणधर देवने द्वादशांग रूपमें उसे रचा और उसका शिक्षण परम्परासे चलता रहा और वही आज भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनेकान्तशासनमें पाया जाता है। तो चूंकि मूल वक्ता जिनेन्द्र देव वीतराग सर्वज्ञ ही हैं अतएव उनके वचनमें कोई दोष नहीं आ पाया। वचनोंमें दोष आनेके दो कारण होते हैं— एक तो किसी प्रकारका राग या स्वार्थका होना, दूसरी बात— समस्त वस्तुओंका ज्ञान न होना, यों तो ज्ञानवश असत्य बात बोलनेमें आती है। सो प्रभु जिनेन्द्रके न तो राग स्वार्थ ही है और न अज्ञानता ही है। तो ऐसी प्रभुकी वाणीकी परम्परासे चले आये आगममें भी वही वस्तुस्वरूप लिखा है जो प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे सिद्ध है। इस ही युक्त्यनुशासनका एक उदाहरण यह दिया जा रहा है कि जो भी पदार्थ है उस पदार्थका रूप प्रतिक्षण ध्रौव्य, उत्पाद और विनाशरूप है, क्योंकि सत् वही हो सकता है जो उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हो। इसको एक प्रतिज्ञा वाक्यमें रख लीजिए कि प्रत्येक सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होता है। यह प्रतिज्ञा प्रत्यक्षसे बाधित तो है नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षसे जो स्थूल पदार्थ दिख रहे हैं उनमें स्थूलतया उत्पादव्ययध्रौव्य दृष्टिगत होते हैं। तो इसी तरह आत्मा परमाणु आदिक जो सूक्ष्म पदार्थ हैं उनमें भी उत्पादव्ययध्रौव्य घटित होता है और आत्मामें तो उसका साक्षात् अनुभव होता है।

(१६४) प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक अर्थके प्ररूपणको युक्त्यनुशासनताका अपने आपमें

http://www.jainkosh.org

निर्णय—

जैसे अपने आपके बारेमें सोचें कि मैं हूं तो सदा रहने वाला हूं और उसमें प्रतिक्षण पर्याय, तरंग, विचार नाना प्रकारके हुआ करते हैं। यदि किसी पदार्थमें केवल स्थिति स्थिति ही मानी जाय, उत्पादव्यय न माना जाय तो उसकी स्थिति भी सिद्ध नहीं होती, इसी प्रकार केवल उत्पादव्यय ही माना जाय और स्थिति न मानी जाय तो ऐसा भी कोई पदार्थ वस्तुभूत नहीं है। इस तत्त्वका प्रत्यक्षसे निषेध नहीं है, अनुमान आदिक प्रमाणसे भी निषेध नहीं है और इस युक्त्यनुशासनमें आगमसे भी विरोध नहीं आता। आगमका तो मुख्य वचन ही है यह, उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यह परमागम वचन प्रसिद्ध है, इसके अलावा किसी भी एकान्तरूप आगमका वचन न तो प्रत्यक्षसे सिद्ध है, न अनुमानसे प्रसिद्ध है और सर्वथा एकान्तरूप आगम परस्पर विरुद्ध होनेसे अथवा वस्तुस्वरूपके विरुद्ध होनेसे ये प्रमाणभूत नहीं हैं। यों यह प्रतिज्ञा पूर्ण समीचीन है कि प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक ही होता है। ऐसा यह युक्त्यनुशासन हे वीर! आपका ही अबाधित शासन है।

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना।

Version 1

भङ्गाविभावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥ ४९ ॥

(१९५) नानात्मता व एकात्मताको प्राप्त सत्‌की वस्तुता—

हे प्रभो ! आपके शासनमें बतायी गई जो एक वस्तु है वह अनेकरूपताका त्याग न करती हुई स्ववस्तुत्वको धारण करती है, क्योंकि जिसमें नानारूप नहीं है, पर्यायें नहीं हैं वह वस्तु ही नहीं। जैसे सत्ताद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदिक मात्र सामान्य तत्त्ववादीके मंतव्य वे केवल कल्पनासे ही उद्भूत हैं, वहाँ वह सद्भूत पदार्थ नहीं प्राप्त होता, इसी प्रकार हे वीर जिनेन्द्र ! जो वस्तु नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मताको न छोड़ती हुई वस्तुरूपसे अभिमत है। यदि नाना स्वरूप एकत्वपनको छोड़ दे तो वह भी वस्तु नहीं रहती। जिन दार्शनिकों ने निरन्वय नाना क्षणरूप वस्तु माना है उनका एकत्व न होने से वे भी कर्ता कर्म आदिकसे रहित होकर अवस्तु ही ठहरते हैं, इस कारण पदार्थका यह स्वरूप है कि एक दूसरेका त्याग न करनेसे समस्त पदार्थ एकानेकस्वभावरूप हैं। एक तो मूल में है ही सत् और वह नाना पर्यायोंमें चलता रहता है, इस कारण पदार्थ एकानेकात्मक है।

(१९६) शब्दकी नानारूपत्वके प्रतिपादनकी क्षमता के विषयमें आरेका व समाधान—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जो वस्तु अनेकान्तात्मक है याने अनन्तरूप है उस वस्तुका प्रतिपादन कैसे हो सकता क्योंकि कोई शब्द नहीं है जो शब्द अनन्तरूपका वाची हो। प्रत्येक शब्दका अपना-अपना सीमित अर्थ है। तो शब्द तो एक धर्मका वाची होगा। अनन्त धर्मात्मक तत्त्वका वाचक शब्द कैसे हो सकता है ? इस शंकाका समाधान यह है कि वस्तु जो अनन्तरूप है इसमें अङ्ग और अङ्गी भावकी विवक्षा है अर्थात् उनमें गौण और मुख्यकी विवक्षा होनेसे वे पदार्थ क्रमसे वचनगोचर होते हैं, हाँ एक साथ तो वचनगोचर नहीं हैं। तब ही तो सप्तभङ्गीमें एक अवक्तव्य भङ्ग आता है। क्योंकि अनेकान्तात्मक वस्तुके सभी धर्म एक साथ एक वचन के द्वारा कहे नहीं जा सकते। वचनोंमें ऐसी शक्ति ही नहीं है। फिर भी वस्तुमें रहने वाले सभी धर्मोंका जिनको बोध है वे विवेकी पुरुष क्रमसे वचन बोलते हैं और उनके वचन सत्य होते हैं, क्योंकि उनकी प्रतीतिमें अविवक्षित धर्मोंकी भी सत्ता है। तो इस प्रकार पदार्थमें नानापन और एक रूपके विषयमें अंग अंगी भावसे प्रवृत्ति होती है। जो मुख्य है वह वचन द्वारा कहा गया है। उसके साथ शेष समस्त स्वरूप गौण रूपसे उसी वचन द्वारा कहे गए माने जाते हैं।

(१९७) उपरोक्त विषयके सम्बन्धमें एक उदाहरण—

अब इसी विषयमें एक उदाहरण लें—जैसे कहा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि स्यात् एकं वस्तु, याने वस्तु कथञ्चित् एक है तो इस वचन द्वारा प्रधानतासे एकत्व वाच्य है, पर गौण रूपसे अनेकत्ववाच्य है, यह प्रकाश स्यात् शब्दसे मिलता है। जब किसी दृष्टिसे वस्तुको एक कहा तो उसीसे ही यह सिद्ध है कि उसके प्रतिपक्ष दृष्टिसे वस्तु अनेकरूप है। इसी प्रकार जिस समय कह कहा कि स्यात् अनेकं एव वस्तु, कथञ्चित् वस्तु अनेक है। तो जिस अपेक्षासे वस्तुको अनेक कहा जा रहा है उस दृष्टिसे वस्तुका अनेकपना प्रधान है, किन्तु जब कथञ्चित् अनेक बताया है तो उस ही से यह सिद्ध है कि उसके प्रतिपक्षकी दृष्टिसे वस्तु एकरूप है, इस प्रकार एकत्व और अनेकत्वके कहनेमें असत्यता नहीं हो सकती। यदि सर्वथा एकत्व कहा जाय तो उससे अनेकत्वका निराकरण किया गया। तो जिस वस्तुमें अनेकत्वका निराकरण हो उसमें एकत्व भी नहीं ठहरता, क्योंकि एक अनेकपना अविनाभावी है। द्रव्यदृष्टिसे वस्तु एक है तो पर्यायदृष्टिसे वस्तु अनेक है। द्रव्यशून्य पर्याय मात्र वस्तु नहीं हुआ करती, इसी प्रकार पर्यायशून्य द्रव्य मात्र वस्तु नहीं हुआ करती। तो ये दो दृष्टियाँ समझनेके लिए आवश्यक ही हैं। किसी भी वस्तुका कथन होगा तो द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टिसे होगा। तो इस तरह द्रव्यदृष्टिसे वस्तु एक रूप है वह एकरूपपना अनेकताको छोड़कर नहीं है, याने जिसमें पर्यायोंसे अनेकपना न हो वहाँ द्रव्यका एकत्व भी नहीं

http://www.jainkosh.org

रहता, इसी प्रकार यदि कोई सर्वथा अनेक ही माने तो उसके इस सर्वथा वचनसे एकत्वका निराकरण हुआ। जहाँ एकत्व नहीं है वहाँ अनेकत्व भी नहीं रह सकता। जैसे जो द्रव्य नहीं, सत् नहीं वहाँ पर्याय कैसे आयगी? इस कारण सर्वथा वचन अयुक्त हैं। वस्तु अनेकान्तात्मक है और उसको प्रधान अप्रधान करके वचन द्वारा समझ लेना चाहिए।

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा
नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ॥ ५० ॥

(१९८) एक वस्तुके धर्मोंको व धर्मधर्मीकी परस्पर निरपेक्षरूपसे अनुपलभ्यमानता—

यहाँ कोई शंकाकार यह कह सकता है कि वस्तुमें अनन्त धर्म मान लिए जायें तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु वे सब धर्म परस्पर निरपेक्ष हैं। जैसे एक वस्तुमें जितने गुण माने जाते हैं उन सब गुणोंका स्वरूप न्यारा-न्यारा है। एक गुणका स्वरूप दूसरे गुणका नहीं बनता, अन्यथा अनन्त गुण ही नहीं कहला सकते। तो गुणका स्वरूप तो जुदा-जुदा मानना ही होगा। उसीसे ही यह समझ लिया जायगा कि वे सभी धर्म परस्पर निरपेक्ष हैं और धर्म उनसे अलग है। इस तरह वहाँ अनेक सत् पाये गए। अनन्त गुण हैं, उनकी स्वतंत्र सत्ता है

Version 1

और जो गुणी पदार्थ है उसकी स्वतंत्र सत्ता है। इस तरहसे वस्तुकी व्यवस्था सुगमतया समझमें आ जायगी। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि वस्तुको अनन्त धर्मरूप मानकर भी जो उन धर्मोंको परस्पर निरपेक्ष कहा है शंकाकारने, वह यों युक्त नहीं है कि निरपेक्ष धर्म हुए तो वहाँ वस्तु ही सिद्ध न होगी। वस्तु फिर किस स्वरूप है ? जिस स्वरूपको बतायेंगे उसे तो भिन्न मान लिया जाता। तो कोई भिन्न वस्तु किसी भिन्नका स्वरूप बन सकती है क्या ? इसके अतिरिक्त इस मान्यतासे कोई पुरुषार्थका उपाय न बन पायगा। जो लोग कहते हैं कि वस्तुके धर्म सब परस्पर निरपेक्ष हैं तो उससे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, न कोई मोक्षका उपाय बन सकता है, क्योंकि जो पदार्थ जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं है याने पाया नहीं जाता उस रूपसे उसे व्यवस्थित भी नहीं किया जा सकता। जैसे अग्नि शीतपने के साथ उपलभ्यमान नहीं है तो क्या अग्निको शीतरूपमें व्यवस्थित किया जा सकता ? नहीं। तो यों ही समझिये कि पदार्थमें साधारण असाधारण सभी धर्म परस्पर निरपेक्ष हैं तो वैसा परिचय पुरुषार्थका हेतु नहीं बन सकता, क्योंकि पदार्थ ही वैसा नहीं। बुद्धि सन्मार्ग में कैसे चल सकती ? इस कारण वस्तु अनन्त धर्मात्मक है और वे सब धर्म स्वतंत्र नहीं हैं, परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं, ऐसा युक्त्यनुशासन प्रत्यक्ष और आगमसे अविरुद्ध होता है।

(१६९) धर्म व धर्मोकी परस्पर सापेक्षरूपसे उपलभ्यमानता—

जो धर्म अंश परस्पर सापेक्ष हैं वे ही पुरुषार्थके हेतु बन सकते हैं, क्योंकि वस्तु उस रूपमें देखे जाते हैं। जो पदार्थ जिस रूपमें देखा जाय वह पदार्थ उसी रूपमें व्यवस्थित होता है। जैसे अग्नि दहनताके रूपमें देखी जाती है तो वह दहनतारूपमें ही अग्नि व्यवस्थित होती है। इसी प्रकार वस्तुके सभी धर्म परस्पर सापेक्ष देखे जाते हैं तो वे ही पुरुषार्थके हेतु रूपसे बनते हैं। इसी विषयको दूसरे ढंगसे देखिये—यहाँ पृथक्त्ववादीने अंशी और अंशमें भी अलगपनेकी कल्पना की है, सो ऐसा नहीं है। अंशी अंशोंसे पृथक् नहीं है अर्थात् धर्मी पदार्थशक्त्यात्मक धर्मसे पृथक् नहीं है, क्योंकि वह पृथक् रूपमें उपलभ्यमान ही नहीं है। जो जिस रूपमें उपलभ्यमान नहीं है वह उसमें नास्तिरूप ही है।

(१७०) धर्म व धर्मोकी परस्पर सापेक्ष रूपसे उपलभ्यमानताका उदाहरण देकर समाधान—

जैसे अग्नि शीतताके रूपसे उपलभ्यमान नहीं है तो शीतताके रूपसे अग्निका अभाव ही है। इसी प्रकार अंशी को अंशोसे अलग होनेरूपसे अनुपलभ्य मानता है, इस कारण अंशोंसे पृथक् अंशीका अभाव है। अंश मायने शक्ति आदिक, अंशी मायने पदार्थ। जैसे आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनंद आदिक अनेक शक्तियोंरूप है तो वे शक्तियाँ तो अंश कहलाये और आत्मा अंशी कहलाया। सो अंशोसे अंश अलग नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अंशात्मक ही अंशी है । ज्ञानदर्शनाद्यात्मक आत्मा है और इसी तरह वस्तुस्वरूप निरखनेमें आगमसे भी विरोध नहीं आता, क्योंकि भिन्न अर्थोंका अंश-अंशी भावरूपसे प्रतिपादन करने वाला आगम नहीं है, किन्तु एक ही अर्थमें अंश-अंशी भावका, भिन्नताका प्रतिपादन करने वाला आगम है । अब जिस प्रकार अंश-अंशी परस्पर सापेक्ष होकर किसी क्रिया पुरुषार्थके हेतु-भूत बनते हैं, इसी प्रकार नयोंकी भी बात समझना । नय भी परस्पर सापेक्ष होकर अपनी सत्तात्मक क्रियामें पुरुषार्थकी हेतु है अर्थात् वह नय है यदि परस्पर सापेक्ष हो तो । जो वस्तु जिस रूपमें उपलभ्यमान है वह इसी रूपसे व्यवस्थित है ।

(१७१) नयोंकी भी परस्पर सापेक्षरूपसे उपलभ्यमानता—

ये नय भी सब परस्पर सापेक्षरूपसे ही उपलभ्यमान हैं, इस कारण नयोंकी भी इसी तरह व्यवस्था होती है । नय ७ माने गए हैं, जिनमें कुछ नय स्थितिके ग्राहक हैं, कुछ नय उत्पादव्ययके ग्राहक हैं । जो स्थिति तत्त्वका ग्रहण करने वाला है वह द्रव्यार्थिकनय कहलाता है और जो उत्पादव्ययका ग्रहण करने वाला है वह पर्यायार्थिक नय कहलाता है तो इन ७ नयोंमें नैगम, संग्रह, व्यवहार—ये तीन नय तो स्थिति-ग्राहक द्रव्यार्थिकनयके भेद हैं और ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, सम-

http://www.jainkosh.org

भिरूढ़नय तथा एवंभूत—ये चार नय प्रतिक्षण उत्पादव्ययके ग्राहक पर्यायार्थिकनयके भेद हैं । ये सभी नय परस्परमें सापेक्ष होते हुए वस्तुका साध्य जो अर्थ क्रियारूप पुरुषार्थ है उसकी सिद्धि करते हैं । यदि ये नय परस्पर निरपेक्ष हो जायें तो ऐसे ही आशयमें अनेक एकान्तवाद प्रकट हुए । जैसे जिसमें एक संग्रहनयका एकान्त किया और संग्रहका आशय न रहा, किन्तु वही पूर्ण वस्तु है, ऐसा आशय बना डाला तो उसमें सत्ताद्वैत आदिक एकांतवाद प्रचलित हो गए । इसी प्रकार जहाँ ऋजुसूत्रनयका एकांत किया गया याने प्रतिक्षणकी जो अवस्था है वही पूर्ण पदार्थ है ऐसा माना गया वहाँ निरंशवाद अथवा क्षणिकवादका जन्म होता है । यदि यह जन्म परस्पर सापेक्ष हो जाय और वस्तुभूत अर्थकी खोज बनायी जाय तो यह स्याद्वाद शासनसे वस्तुको सही जाननेका उपाय बनता है । सो हे प्रभो ! जो आपके शासनमें पदार्थका निरूपण है वह प्रत्यक्ष और आगमसे बाधित नहीं है, इसी कारण सत्य है, सद्रूप है और उसकी सद्रूपता उत्पादव्ययध्रौव्य धर्मोंके रूपमें बनी है । तो प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है, ऐसा आपके शासनमें जो युक्त्यनुशासन है वह अबाधित शासन है ।

एकान्तधर्माऽभिनिवेश मूला-
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।

Version 1

एकान्त हानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥ ५१ ॥

(१७२) अनेकान्तात्मकताके निश्चयमें शंकाकार द्वारा विचित्र आपत्ति देनेका प्रयास—

यहाँ कोई जिज्ञासु कहता है कि अनेकान्त शासन से जीवादिक पदार्थोंका अनेकान्तादिक रूपसे निश्चय किया, तब वहाँ निश्चय यह ही तो हुआ कि जीवोंमें स्वात्मा और परमात्माकी सिद्धि है, जो स्वरूपसे समान हैं और व्यक्तिकी दृष्टिसे पृथक् हैं। तो उनमें किसी दृष्टिसे तो अभेद माना तो जब सब जीव हम ही हैं अभेद मान लिया गया तो इस कथञ्चित् अभेदके कारण दूसरे आत्मामें राग उत्पन्न होने लगेगा, क्योंकि स्वमें सभीको राग जगेगा। जब सब जीवोंको स्व मान लिया तो सबमें राग उठने लगेगा और कथंचित् भेद भी माना मायने जीव जुदा है, मैं जुदा हूं, तो जब जुदापन देखा गया तो उसमें द्वेष जगने लगेगा, और द्वेष जगा, राग जगा तो इन दोनोंके कारण जो अनेक दोष होते हैं—घमंड, माया, ईर्ष्या मात्सर्य आदिक ये सब दोष जगने लगेंगे, संसारके कारण हैं और आकुलताके निमित्तभूत हैं और इस दोषके कारण स्वर्ग और अपवर्गका मार्ग रुकता है। वे दोष जब प्रवृत्त होने लगते हैं तो मनमें समता नहीं रहती है। मन अपनी स्वाभाविक स्थितिमें नहीं रहने देता, विषम स्थितिमें पतित कर देता है

और जब मनमें समता न रही तो समाधि न बन सकेगी और जब समाधि न बन सकी तो मोक्ष न बन सकेगा, अतएव जिनको मोक्ष चाहिए उनको आवश्यक है कि मोक्षका कारण समाधि बनायें जिनको समाधिभाव चाहिए उनको आवश्यक है कि वे मनमें समतापरिणाम रखें। जो मनमें समतापरिणाम चाहते हैं उनको यह आवश्यक है कि वे वस्तुको अनेकान्तात्मक न मानें, क्योंकि वस्तुको जब अभेद माना तो राग बनेगा, भेद माना तो द्वेष जगेगा और रागद्वेष जगे तो आत्मा का अनर्थ है।

(१७३) एकान्तवादमें रागद्वेषादिमय संसार आपत्ति और अनेकान्तशासनमें संसरणसे मुक्त होनेका निर्बाध उपाय—

अब उक्त शंकाका समाधान करते हैं कि जो यह बतलाया कि वस्तुको अनेकान्तात्मक मान लेनेपर रागद्वेष जगते हैं और वे मनमें समताका निराकरण करते हैं, सो यह बात अनेकान्तवादमें नहीं घटित होती, किन्तु एकान्तवादमें ही यह दोष आता है। जब एकान्तरूपसे नित्यत्व आदिक धर्मों में एक अभिप्राय बना लिया तो जो वस्तुका स्वरूप नहीं है उसमें जब अभिप्राय बना लिया तो यह मिथ्या श्रद्धान ही तो कहलाया और ऐसा मिथ्याश्रद्धान होनेपर अभिप्राय अहंकार का रहना है, बड़ा व्यामोह रहता है। इसी व्यामोहसे अहंकार बढ़ता है। जहाँ अहंकार है वहाँ ममकार भी साथ चलता

है और जहाँ अहंकार ममकार है वहाँ रागद्वेष मात्सर्य आदिक सभी दोष बनने लगते हैं। तो जितने भी दोष बनते हैं उन सबका मूल कारण है, मिथ्यादर्शन अथवा कहो व्यामोह और यह मिथ्यादर्शन व्यामोह एकान्त हठमें है, क्योंकि वस्तुका स्वरूप जैसा नहीं है वैसा माने तो वह अज्ञान अंधेरा है और वहाँ खोटी हठ है। इस कारण एकांत धर्मका अभिप्राय रहे तो उससे अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारसे रागादिक होते हैं और उनके कारण फिर यह संसार परम्परा बढ़ती है। सम्यग्दृष्टि जीवोंके जिनको कि वस्तुका सही अनेकान्तात्मक रूपमें श्रद्धान है वहाँ एकान्त नहीं है। एकांत धर्ममें हठपूर्वक अभिप्राय जगे, ऐसा मिथ्यादर्शन है। तो अनेकान्तका निश्चय होने से वहाँ सम्यग्दर्शन प्रज्वलित होता है और जो आत्माका वास्तविक स्वरूप है, सो जहाँ एकान्त अभिप्रायका अभाव है, सम्यग्दर्शन आदिक परिणाम है वहाँ मनमें समता रहेगी और मनमें समता होनेसे समाधिभाव बनेगा, समाधिभावसे निर्वाण होगा। तो अनेकान्त शासनमें मोक्षमार्ग युक्त है। यहां किसी एकान्त धर्ममें हठ यों नहीं हो पाता कि जब प्रतिपक्षभूत दूसरी दृष्टिकी प्रतीति है सो वस्तुके सर्वात्मक सही बोध होनेसे वहाँ दर्शनमोहका उदय नहीं और कदाचित् ऐसे ज्ञानी जीवोंके चारित्रमोहके उदयसे रागादिक उत्पन्न हुए तो वे भी औदयिक परिणाम हैं। उनमें आत्मरूपताकी श्रद्धा नहीं होती ज्ञानियों

http://www.jainkosh.org

को। सो सम्यग्दर्शनरूप जो परिणाम है, वह अज्ञान अंधकार का विनाशक होनेसे संसारपरम्पराका बंध नष्ट कर देता है और इसी सम्यग्दर्शनकी भावनासे, सहज आत्मतत्त्वकी भावना से चारित्रपरिणाम बनता है, सो सर्वथा बंध दूर होकर निर्वाण प्राप्त होता है। रागादिक भावोंका अभाव होना यह आत्मस्वभावका विकास है, सो स्वभाव परिणाम तो है, मगर पारिणामिक भाव नहीं है। पारिणामिक भाव अनादि अनंत होता है। जीवमें अपने सत्त्वके कारण जो भी स्वरूप है वह स्वरूप पारिणामिक भाव है। इसकी ही आराधनाके प्रसादसे सम्यक्त्वका लाभ और चारित्रका लाभ होता है। इस प्रकार हे वीर जिनेन्द्र! आपके अनेकान्त शासनमें अज्ञान-अंधेरा दूर होने से जो सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है उससे मोक्षमार्गकी व्यवस्था बनती है।

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी
जिन: त्वदीयै: पटुसिंहनादै:।
एकस्य नानात्मतया ज्ञवृत्तेस्तौ
बन्धमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥ ५२ ॥

(१७४) अनेकान्तशासनके सिंहनादसे मोक्षमार्गविराधक एकान्ताग्रहका परिहार—

यहाँ कोई जिज्ञासु पुनः प्रश्न करता है कि अनेकान्तवादियोंको अपने अनेकान्तशासनमें तो राग हो गया और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सर्वथा एकान्तशासनमें द्वेष हो गया तो इन अनेकान्तवादियों का मन समान कैसे रह सकता है ? जब मनमें समानता न रही तो मोक्ष कैसे हो सकेगा ? जब मोक्ष नहीं है तो बंधकी क्या कल्पना करना ? वह भी स्वभाव कहलायगा फिर, तो मन विषम हो गया अनेकान्तवादियोंका, क्योंकि उनको अपने शासनमें तो राग है और एकान्तवादियोंके शासनमें द्वेष हो गया। जिज्ञासुका यह प्रश्न यों असंगत है कि अनेकान्तात्मक तत्त्वके दर्शनमें द्वेष और रागकी बात कुछ नहीं है, किन्तु वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही वहाँ प्रतिपादित होता है। ज्ञानी पुरुषको किसी भी जीवसे घृणा नहीं होती। चाहे वह एकान्तवादी हो, चाहे वह पापी जीव हो, जीवका स्वरूप सबका समान है और तथ्य उसकी प्रतीतिसे नहीं निकलता। इस कारण किसी जीवमें द्वेष बने ज्ञानियोंके, यह सम्भव नहीं है, किन्तु जिस विधिसे संसारके संकटोंसे छुटकारा होता है उस विधिसे जानना और अन्य जीवोंके लाभके लिए उस विधिका प्रकाशन करना, यह तो जीवके किसी वास्तविक वात्सल्यका फल है। अनेकान्तवादी किसी भी एकान्तवादके द्वेषी नहीं होते, किन्तु सभी एकान्तवादोंको अपेक्षाकी दृष्टिसे समर्थन हो मिलता है। प्रतिपक्षके द्वेषी तो एकान्तवादी नहीं होते, क्योंकि प्रतिपक्षभूत धर्मको स्वीकार करनेके लिए उनको गुंजाइश नहीं है, किन्तु अनेकान्तमें स्वपक्ष परपक्ष अथवा कहो

विवक्षित धर्म और अविवक्षित धर्म दोनोंको स्वीकार करनेकी गुंजाइश है और वस्तुमें भी यही बात है, क्योंकि पदार्थ द्रव्य-पर्यायात्मक है, भेदाभेदात्मक है। एकान्तवाद तो द्रव्य एकांत से अथवा पर्याय एकान्तसे निकला है, किन्तु अनेकान्तवादने जहाँ द्रव्यस्वरूपको माना वहाँ पर्यायस्वरूपको भी माना है। इसलिए अनेकान्तवादी किसी भी शासनके बैरी नहीं हैं, किन्तु वस्तुका प्रतिपादन करने वाले सभी शासनोंका तालमेल बैठा-लने वाला है। हाँ जो एकान्तवादी हैं वे सब प्रतिपक्षोंसे द्वेष रखने वाले हैं। हे वीर जिनेन्द्र ! आपके सिंहनादोंसे वे भी अपने आग्रहको तज देते हैं। वस्तुतत्त्वका विवेक सभीके लिए कराया जानेका आपके शासनमें उपभ्य है। सो निश्चयात्मक अबाधित जो आगम वाच्य हैं उनके प्रयोग द्वारा मुक्तिमार्गका प्रकाशन होता ही है।

(१७५) अनेकान्तात्मक पदार्थके सही निर्णयमें मोक्षमार्ग को व्यवस्था—

प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसका नाना-त्मक रूपसे निश्चय करना हो सर्वथा एकान्तका हटना है। ऐसी स्थितिमें अनेकान्तवादीका किसी भी एकान्तवादीके साथ द्वेष नहीं है, क्योंकि वह प्रतिपक्षको भी स्वीकार करता है। जैसे द्रव्यदृष्टिसे जीवको नित्य कहा गया तो इस नित्यकी बात सुनकर सांख्यादिक खुश होंगे और क्षणिकवादी इसमें नाराज

Report any errors at vikasnd@gmail.com

होंगे, पर क्षणिकवादियोंके नाराज होनेकी यों जरूरत नहीं कि यह अनेकान्तशासन पर्यायदृष्टिसे जीवादिक तत्त्वोंको नित्य भी घोषित करता है। तो अनेकान्तवादने सभी प्रतिपक्षोंका ताल-मेल बैठाया है। वह किसी भी प्रतिपक्षका द्वेषी नहीं है। तत्त्व के निश्चयका नाम राग नहीं होता। वस्तु अनेकान्तात्मक है और ऐसा ही निर्णय करना यह कोई दोषकी बात नहीं है। अगर तत्त्व निर्णयका नाम राग हो तो ऐसे समाधिष्ठ मुनियोंके, जिनका मोह क्षीण हो गया, ऐसे उत्तम अन्तरात्माओंके भी रागका प्रसंग आ जायगा। तो तत्त्वका निर्णय करना राग नहीं कहलाता। इसी प्रकार अतत्त्व का निराकरण करना द्वेष नहीं कहलाता, क्योंकि जगतके जीव अतत्त्वमें ही मुग्ध होकर अब तक संसारमें रुलते चले आये हैं। उनको अतत्त्वका बोध कराकर छुटाया जाय तो वह जीवोंका उपकार ही कहलायेगा, इसमें अपकारकी जरा भी बात नहीं है। तो हे प्रभो! आपके शासनको मानने वाले ज्ञानी पुरुषोंके मनमें समता रहती है। उनको समाधि प्राप्त हो सकती है और निर्वाण प्राप्त हो सकेगा। हाँ ज्ञान होनेपर भी किसी पदवी तक मनमें समता रहा करती, तो वहाँ यह बात समझनी चाहिए कि जिन अंशोंमें चारित्रमोहका उदय है उन अंशोंमें बंध चलता रहता है और वह बंध भी प्रायः पुण्य बंध होता है, पर परमपारिणामिक भावमय चैतन्यस्व-

http://www.jainkosh.org

भावकी आराधनाका ध्यान उनके सदा रहता है, और जब भी निजस्वरूपकी ओर आराधना बनती है तो बंध रुक जाता है। तो बंध होना, मोक्ष होना, यह अनेकान्तशासनमें सिद्ध होता है। जो अनेकान्त मतसे बाह्य है उनके मोक्षकी व्यवस्था नहीं है।

आत्मान्तराऽभावसमानता न
वागास्पदं स्वाऽऽश्रयभेदहीना।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥ ५३ ॥

(१७६) अन्यापोहके वागस्पदत्वकी असिद्धि—

यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि वस्तु नानात्मक हो, इसका प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु तथ्य यह है कि क्षणिकवादियोंका जो अन्यापोहरूप सामान्य भाव है वह ही वचनों द्वारा कहा जा सकता है। क्षणिक-वादियोंका सिद्धान्त है कि शब्द सीधे पदार्थको नहीं बतलाते, किन्तु उस पदार्थको छोड़कर बाकी जितने पदार्थ हैं उनका अभाव बतलाते। जैसे किसीने 'घड़ा' शब्द कहा तो घड़ा शब्द का अर्थ घड़ा नहीं है क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तके अनुसार, किन्तु जितने अन्य पदार्थ हैं कपड़ा, बैंच आदिक वे सब नहीं हैं, यह घड़ा शब्दका अर्थ है। इसीको कहते हैं अन्यापोह। तो वचनके द्वारा अन्यापोह तो कहा जाता, पर नानात्मक अर्थ

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वचनों द्वारा नहीं कहा जाता।

(१७७) उपर्युक्त शङ्काका समाधान—

इस शङ्काके समाधानमें अन्यापोहमें यही तो माना गया कि अन्य पदार्थोंका अभाव है। तो अन्य पदार्थोंके स्वभावका परित्याग है, ऐसी जो समानता बतलाते हो, तो बात कहीं कल्पित सब कुछ, मगर अपने आश्रयरूप भेदको नहीं माना गया। वह समानता किसमें घटित होती है? उस घड़ा आदि पदार्थको तो मानते हो नहीं हैं तो सामान्य कहाँ रहा? यह तो एक भरमाना रहा कि कोई शब्द बोला किसी अर्थका संकेत करनेको तो उस शब्दसे अर्थका संकेत तो नहीं हुआ, किन्तु अन्य-अन्य पदार्थोंके अभावका संकेत होता है। तो ऐसा अन्यापोह शब्दका विषय नहीं है। सभी लोग समझते हैं कि जो शब्द बोला उसका जो वाच्य अर्थ है उस शब्दसे उस अर्थका एकदम संकेत होता है।

(१७८) सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें सामान्य या विशेष का निराकरण करनेसे वस्तुके अभावका प्रसंग—

पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है, न कि केवल सामान्य पदार्थ हो या विशेष पदार्थ हो। तो शब्द जितने बोले जायेंगे उनका अर्थ सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही बनेगा। यह शंकाकार फिर कहता है कि पदार्थ भले ही सामान्यविशेषवान होता, मगर वचनगोचर सामान्य ही है, क्योंकि विशेष तो उसी

का आत्मा है। इस तरह ये दोनों ही एक कहलाये। कौन एक कहलाये? सामान्य, और कैसा वह सामान्य? अन्यापोह रूप। किसी पदार्थका संकेत होना यह तो विशेष कहलाता है और बाकी पदार्थोंका अभाव होना यह सामान्य कहलाता है। क्षणिकवादियोंके सामान्य और विशेषका ऐसा स्वरूप है और वह विशेष सामान्यके अभाव रूपसे है, इसलिए अन्यापोह ही शब्द द्वारा वचन है, ऐसी शङ्काकारकी मंशा है। समाधान यह है कि सामान्य और विशेष यद्यपि दोनों एक वस्तुमें रहते हैं, मगर स्वरूप उनका जुदा है। सामान्य और विशेषको सर्वथा एकरूप स्वीकार कर लेनेपर कोई एक ही तो रहेगा, दूसरा मिट जायगा। तो वे यह बतलायें कि सामान्य विशेष एक हो जानेपर कोई एक मिट गया तो वह कौनसा मिट गया? यदि कहें कि विशेष मिट गया, केवल सामान्य सामान्य ही रहा तो विशेष मिट जानेपर सामान्य रह ही नहीं सकता, क्योंकि ये दोनों अविनाभावी हैं। वस्तुमें सामान्य स्वरूप न हो तो सामान्य नहीं ठहरता, वस्तुस्वरूप न हो तो सामान्य नहीं ठहरता, इस तरह पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है और जो पदार्थ है वही शब्द द्वारा वाच्य होता है। इस तरह शब्द द्वारा अनेकान्तात्मक पदार्थ ही वाच्य है। एकान्तस्वरूप पदार्थ नहीं है। वह शब्दों द्वारा वाच्य कैसे हो सकता है?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांश विकल्पतो न
मानं च नाऽनन्तसमाश्रयस्य ॥ ५४ ॥

(१७९) सर्वगत एक सामान्यकी अप्रमेयता—

अभी तक क्षणिकवादियोंके अन्यापोहरूप सामान्य की चर्चा थी। उसके प्रतिपक्षमें सर्वव्यापक सामान्यवादी कहते हैं कि अन्यापोहरूप सामान्य तो वचनके गोचर नहीं है, क्योंकि वह अवस्तु है। कोई शब्द बोला और शब्दमें जो अर्थ भरा है उस अर्थका तो वह वाचक नहीं और अन्य-अन्य सब पदार्थोंका हटाव हटाव ही वाचक है तो यह तो कोई विवेक भरी दृष्टि नहीं है। अन्यापोह अवस्तु है, किन्तु सर्वगत सामान्य, वह वचनगोचर है और किसी भी प्रकारके भेदको वह साथमें लिए हुए नहीं है। तो सामान्य ही तत्त्व है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि शंकाकार द्वारा माना गया सामान्य अप्रमेय है अर्थात् न तो उसमें देशकी सीमा है कि वह सामान्य कहाँ तक है, न उसमें कालकी सीमा है कि वह सामान्य कब तक रहेगा, न उसमें आकारकी सीमा है कि वह सामान्य कितना बड़ा है, ऐसा सामान्य शंकाकारने माना है और साथ ही वे मानते हैं कि किसी भी प्रकारका भेद भी साथमें नहीं लगा है।

(१८०) शंकाकारकी सामान्यकी अप्रमेयता रूपमें शंका

http://www.jainkosh.org

का समाधान—

तो ऐसा शंकाकारका सर्वव्यापी नित्य निराकार रूप जो सत्त्व सामान्य है वह अप्रमेय है, अवस्तु है, प्रमाण का विषय नहीं है, किसी भी ज्ञानसे सर्वव्यापी नित्य निराकार सत्त्व नहीं जाना जाता। और वे शंकाकार सामान्यको अपने आश्रयभूत द्रव्यादिकके साथ एक नहीं मानते, भेदरूप स्वीकार करते अर्थात् द्रव्य गुण कर्म ये जुदा-जुदा वस्तु हैं और सामान्य जुदा वस्तु है तो ऐसा कोई जुदा सामान्य ज्ञान में नहीं आता, क्योंकि सामान्यको वृत्ति उन द्रव्यादिकमें नहीं मानी है। आश्रयभूत द्रव्य, गुण, कर्म सबमें सत्त्वकी वृत्ति नहीं मानी है। वह सत्ता सामान्य सबमें व्यापक है। तो सामान्यका आश्रय तो मानते हैं द्रव्यादिकको, मगर द्रव्यादिक में सामान्यकी वृत्ति नहीं मानते। तो ऐसा उनका सामान्य तो द्रव्यादिकका सामान्यसे संयोग ही कहलाया। फिर तो जैसे बर्तनमें दही रखी, ऐसे ही द्रव्यमें सामान्य रखा, तो सामान्य तो कुछ द्रव्य न रहा, वस्तु न रहा और सामान्य द्रव्य नहीं है तो उसका संयोग भी न बन सका, क्योंकि संयोग दो द्रव्यों में बना करता। तो इस तरह किसी भी ढंगसे द्रव्यादिकमें सामान्य वृत्ति नहीं बन सकती। निष्कर्ष यह है कि शंकराका ऐसा समझता है कि सारे लोकमें सामान्य एक तत्त्व है और वह सामान्य सब पदार्थोंमें मौजूद है, व्यापक है, क्योंकि सभी

Version 1

पदार्थोंके बारेमें सत् है, सत् है ऐसा सबके बारेमें बोध होता है और वह सामान्य इन सबसे निराला है। तो उसी सामान्य की समालोचना चल रही है कि विशेषोंसे निराला स्वतंत्र कोई सामान्य वस्तु नहीं है।

(१८१) कल्पित सर्वगत एक सामान्यकी द्रव्यादिकोंमें वृत्तिकी असंभवता—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि हम सामान्यकी द्रव्यादिकके साथ वृत्ति मान लेंगे तब तो सामान्य सिद्ध हो जायगा। तो उत्तरमें कहते हैं कि यदि सामान्यकी वृत्ति द्रव्यादिक विशेषोंके साथ मानना चाहते हो तो यह बतलाओ कि वह सामान्य समस्त विकल्परूप है या आंशिक रूप है? जिसमें अंशकी कल्पना नहीं, ऐसे समस्त विकल्पोंरूप सामान्य की वृत्ति तो एक साथ सब व्यक्तियोंमें सिद्ध नहीं की जा सकती। फिर तो अनेक सामान्य मानने पड़ेंगे और हर एक वस्तुके साथ सामान्य लगा हुआ है, ऐसा मानना पड़ेगा। एक और निरंश सामान्यका सब पदार्थोंके साथ एक साथ सम्बंध नहीं बन सकता याने पदार्थ तो अनेक हैं और सामान्य एक माना गया तो एक सामान्य सब पदार्थोंमें एक साथ कैसे जुड़ेगा? चाहे कितनी ही तेज दौड़ हो सामान्यकी द्रव्यादिक के साथ जोड़नेके लिए, किन्तु यह सम्भव नहीं कि एक सामान्य भिन्न-भिन्न द्रव्यादिकके साथ एक साथ जुड़ जाय। शंका-

कार कहता है कि हमारा सामान्य सर्वव्यापी है, नित्य है, अमूर्त है। इस कारण सब द्रव्योंके साथ एक साथ जुट जाता है। जैसे कि आकाश। आकाश सर्वव्यापी है, नित्य है, अमूर्त है। तो सर्व पदार्थोंके साथ एक साथ जुटा हुआ है। इसी तरह सर्वव्यापी एक सामान्य समस्त द्रव्यादिकके साथ एक साथ जुटा हुआ है।

(१८२) उपर्युक्त शङ्काका समाधान—

इस शंकाका समाधान यह है कि आकाशकी तरह एक सामान्यका सर्व द्रव्यादिकके साथ जुटाव माननेपर यह मानना पड़ेगा कि जैसे आकाश अनन्तप्रदेशी है, आकाश जैसे सांश है उसी प्रकार सामान्य भी सांश बन बैठेगा और शंकाकारने सामान्यको सावयवी नहीं माना, सामान्यको निरंश ही माना है तो जो निरंश सामान्य है वह एक साथ सर्व पदार्थोंमें जुट जाय—यह कथन युक्त नहीं है। जैसे परमाणु एक है तो सारे पदार्थोंमें कैसे एक साथ व्याप सकता है? ऐसे ही सामान्य एक निरंश है तो वह समस्त द्रव्यादिकके साथ कैसे जुट सकता है एक साथ?

(१८३) वस्तुसे पृथक् सामान्यकी असंभवता—

शंकाकार सामान्यको इस तरह कोई वस्तु मान रहा जैसे कि द्रव्य गुण कर्म हैं और उसे सर्वव्यापक मान रहा। और द्रव्य गुण कर्मको भिन्न मान रहा, लेकिन द्रव्य गुण कर्ममें सामान्य अगर जुटे, सामान्यकी वृत्ति हो तब तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सामान्य सिद्ध होता है। तो वह वृत्ति ही तो सिद्ध नहीं हो रही जिससे कि सामान्य सिद्ध हो जाय। जैसे कोई कहे कि मनुष्य सामान्य अलग चीज है और बच्चा, जवान, बूढ़ा—ये बिल्कुल अलग वस्तु हैं या ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक अनेक पुरुष ये भिन्न-भिन्न चीजें हैं और सामान्य मनुष्य इन सबसे जुदा है, फिर वह मनुष्यसामान्य इन बच्चा, जवान, बूढ़ा, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक इनमें जुटता है तो ऐसे निरर्गल वचन कौन मान लेगा कि मनुष्यसामान्य जुदा है और बच्चे लोग जुदे हैं ? तो ऐसे सामान्यको सर्व पदार्थोंमें वृत्ति नहीं बनती और इसी कारण सामान्यका जुदा वस्तुत्व सिद्ध नहीं होता।

(१८४) वस्तुसे व्यतिरिक्त सत्ता महासामान्यकी असंभवता—

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि सत्तारूप महा सामान्य तो पूरा सर्वगत सिद्ध है, क्योंकि सभी पदार्थोंमें वह सत् प्रत्ययका हेतुभूत है। सभी पदार्थ हैं कि नहीं ? ऐसा प्रश्न किया जानेपर उत्तर होता है कि हाँ हैं। तो हैं, वे किस कारणसे हैं कि उन सबमें सत्ता महासामान्य रहता है। वह सत्ता महासामान्य अनंत व्यक्तियोंके समाश्रयरूप है याने अनंत व्यक्तियोंमें रहती है। जो-जो भी सत् माने जाते हैं उन सबमें सत्ता सामान्य है, क्योंकि सद्रूपसे उनमें कोई विशेषता नहीं देखी जाती। है में क्या विशेषता ? कुछ भी चीज है, है, हैपनामें कोई भेद है क्या कि इसका हैपना और ढंगका है,

इसका हैपना और ढंगका है ? भले ही उनके गुण जुदे, अवस्था आदिकमें विशेषता होती, मगर अस्तित्व मात्रमें कोई भेद नहीं पड़ता। और ऐसा जो सामान्य अस्तित्व है निर्भेद, वही तो सामान्य कहलाता। अब इस शंकाका उत्तर करते हैं कि सत्ता महासामान्यको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है याने द्रव्य, गुण, कर्म जो-जो भी सत् माने जायें शंकाकारके ही मतमें, उनका तो ग्रहण हो ना, और सत्ता सामान्यका जुदा ग्रहण हो जाय, यह सम्भव है क्या ? जैसे कोई बच्चा, जवान, बूढ़ा या कोई भी पंडित, मूर्ख, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक किसी पुरुषको तो देखे नहीं और उसे मनुष्य-सामान्य दिख जाय, ऐसा कहीं हो सकता क्या ? तो सत्ता सामान्यका ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है।

(१८५) द्रव्यादिकमें सामान्यकी अभेदवृत्ति माननेपर पदार्थके सामान्यविशेषात्मकत्वकी सिद्धि—

समस्त विकल्प वाले सामान्यकी द्रव्यादिकमें वृत्ति नहीं बनती। अगर द्रव्यादिमें सत्ताकी वृत्ति बनायी तो उनके साथ सामान्य सिद्ध हो जायगा, फिर तो वस्तु ही सामान्य-विशेषात्मक बन गई, स्याद्वादका शासन ही शरण बन गया। तो विशेषरहित सामान्य अथवा द्रव्यादिकसे भिन्न सामान्य जो सर्व व्यापक हो वह सिद्ध नहीं होता। अगर कल्पना भी कर डालें कि है कोई सामान्य अलग तो वह अन्य द्रव्योंकी भांति

Version 1

सप्रदेशी सिद्ध हो जाता है। लेकिन सामान्यको सप्रदेशी कहना इष्ट नहीं है। तब जैसे अन्यापोह वचनके गोचर नहीं है इसी प्रकार यह अभेदरूप सामान्य भी किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है और न वह वचनके गोचर है। तब वस्तुको सीधा सामान्यविशेषात्मक मानना चाहिए। उस पदार्थके जानते समयमें जब सामान्यकी प्रधानता होती है तब सामान्य का स्वरूप समझमें आता है और जब विशेषकी प्रधानता होती है तब विशेषका स्वरूप समझमें आता है। सो हे वीर जिनेन्द्र! आपके शासनमें सामान्यविशेषात्मक पदार्थकी सिद्धि अबाधित है।

नाना सदेकात्मसमाश्रयं
चेदन्यत्स्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चेत्
तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥ ५५ ॥

(१८६) पदार्थोंके सत्स्वभावके समाश्रयरूपमें सामान्यकी सिद्धिकी आरेका—

सर्वगत सामान्यवादी सामान्यका ऐसा स्वरूप कहते हैं कि वह सामान्य अनेक सत् पदार्थोंका स्वभावरूप है। जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा, कर्मात्मा मायने वही वही स्वरूप जिसका समाश्रय है ऐसा कोई सामान्य है अवश्य याने सत्ता सामान्यका आश्रय करके वस्तुको तका जाय तो वह

सदात्मा कहलाता है और द्रव्यत्व सामान्यका आश्रय करके वस्तुको तका जाय तो वह द्रव्यात्मा कहलाता। गुणत्व सामान्यका आश्रय करके वस्तुको तका जाय तो वह गुणात्मा कहलाता है। इसी तरह कर्मत्वसामान्यका आश्रय करके वस्तुको निरखा जाय तो वह कर्मात्मा कहलाता है। सो यहाँ सामान्य अपने-अपने एक-एक सद्व्यक्ति, द्रव्यव्यक्ति, गुणव्यक्ति, कर्मव्यक्तिके प्रतिभासके समयमें ही प्रमाणसे प्रतीत हो जाते हैं याने इन पदार्थोंको जब जाना और जिस विशेषणसे जाना उसकी सामान्यसे ही तो व्याप्ति है, और जैसा उस जाननेके समयमें समझा, जिसको जाननेके समझमें समझा उससे निराला किसी दूसरे व्यक्तिके जाननेके समयमें भी ऐसा ही समझा जाता है, जिससे एक सत्की या द्रव्यादिक स्वभावकी प्रतीति सिद्ध होती है और इस प्रतीतिका कारण है सामान्य का ग्रहण। यदि सामान्य वास्तवमें तत्त्व न हो तो इन पदार्थों का, इन नाना प्रकारके विशेषणोंमें सामान्यका ज्ञान कैसे हो जाता? इससे सामान्य तत्त्व है और वह प्रमाण सिद्ध है, अनुभव सिद्ध है।

(१८७) सामान्यकी व्यक्तियोंसे भिन्नता व अभिन्नता—इन दोनों विकल्पोंमें भी सामान्य पदार्थकी असिद्धिके प्रसंगमें भिन्नताके विकल्पका निराकरण—

अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि सामान्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

को जुदा मानने वाले यह बतलायें कि वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे भिन्न है या अभिन्न ? जैसे द्रव्यत्व सामान्यसे युक्तको द्रव्य माना तो वह सामान्य उस द्रव्यसे भिन्न है या अभिन्न है ? सामान्यको बताया कि एक स्वभावके आश्रयरूपको सामान्य कहते हैं। जो भी सामान्य बताया वह अपने व्यक्तियोंसे यदि जुड़ा है तो लो सामान्यसे वे व्यक्ति जुदे हो गए। अब उनमें कभी वे सामान्यरहित कहलाये, सामान्य कभी जुट नहीं पाया। कभी सामान्य जुट गया, कभी द्रव्यत्व नहीं जुटा, कभी जुटा, तो ऐसे उन व्यक्तियोंकी कोई स्वरूपस्थिति ही न बन पायगी। सत्त्व सामान्य भिन्न है तो वह तो असत् ही रहा, स्वयं तो सत् रहा नहीं। तो सत्त्व सामान्य जुटे तब व्यक्तिकी स्थिति कहलाती है और सत् सामान्य है, पदार्थसे जुदा तो वह असत् ही कहलाया। द्रव्यत्व सामान्य जुटा तो द्रव्य कहलाये और द्रव्यत्व है द्रव्यसे पृथक्। तो स्वयं द्रव्य अपना कुछ न रहा, गुण कर्म स्वयं कुछ भी नहीं रहते। तो ऐसा स्वयं व्यक्तित्व विहीन हो जाता। द्रव्य गुण कर्म आदिक स्वयं कुछ नहीं हैं, क्योंकि द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व ये तो न्यारी चीजें हैं, तो सामान्य भी उनसे निराला फिर रहा क्या ? द्रव्य गुण आदिक वे सब असत् हो जायेंगे, और इतना ही नहीं, जुदे रहने वाले सत्व द्रव्यत्व भी असत् हैं, और जिसमें सत्त्व द्रव्यत्व मानते हैं वह सत् भी अलग है। तो न सत्त्व

http://www.jainkosh.org

वस्तु रहा, न सत् वस्तु रहा, न द्रव्यत्व कुछ है, न द्रव्य कुछ है। द्रव्यत्वके बिना द्रव्य क्या और द्रव्यके बिना द्रव्यत्व क्या ? सबका असत्त्व हो जायगा। सामान्य भी अस्तित्वहीन हो गया, द्रव्य गुण कर्म आदिक भी अस्तित्वहीन हो गए। तो फिर जो प्रथम विकल्पमें पूछा गया कि वह सामान्य पदार्थोंसे भिन्न है तो वह भिन्नत्व गुण अथवा कहो अन्यत्व गुण किसमें रहेगा ? जब दोनों ही नहीं हैं तो न अन्यत्व बन सकता है न सामान्य बन सकता है। तो अन्यत्व भी सिद्ध न हो सका। इस कारण प्रथम विकल्प तो युक्तिसंगत न बना कि सामान्य द्रव्य गुण आदिकसे भिन्न रहता है।

(१८८) भिन्नताकी तरह सामान्यकी व्यक्तिसे अभिन्नता माननेपर भी सामान्यकी असिद्धि—

अब यदि दूसरा विकल्प कहा जाय कि वह सामान्य अपने व्यक्तियोंसे सर्वथा अभिन्न है तो यह अभिन्नता भी सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि सामान्य यदि व्यक्तिमें प्रवेश कर गया अभेद होनेके कारण तो सामान्य कुछ न रहा, व्यक्ति ही रह गया। सामान्य तो हो गया व्यक्तिमें लीन। अब उसका वजूद कुछ न बचा, व्यक्ति ही रह गया। सामान्यकी कोई अलगसे सत्ता ही नहीं और सत्ता न रही तो व्यक्तिकी भी सम्भावना न बनी। तो इस तरह सभी अस्तित्वहीन गए और फिर अभिन्नत्व गुणकी किसमें योजना बनायी जाय,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्योंकि दोनों ही नहीं हैं। न सामान्य रहा, न व्यक्ति रहा। तो जैसे भिन्नताकी योजना किसीमें न बन सकती थी, इसी तरह अभिन्नताकी भी योजना अब किसीमें भी नहीं बन सकती। तो ऐसा सामान्य वास्तविक नहीं, अवास्तविक है। सामान्य विकल्पसे रहित है, ऐसा ही अगर कोई माने तो अवस्तुरूप सामान्य ज्ञानका विषय रहा ही नहीं। तो उसके बारेमें फिर चर्चा ही कहाँसे उठे ? तो ऐसा सामान्य जब ज्ञान का विषयभूत नहीं है तो उसकी कोई व्यवस्था ही न बन सकी। निष्कर्ष यह है कि सामान्य कोई अलग वस्तु नहीं, पदार्थ ही है। उसमें ही जानकारीके लिए हम व्यवहारसे सामान्य और विशेषकी प्रधानतासे किसी वस्तुको समझा करते हैं।

व्यावृत्तिहीनान्वयतो न सिद्धयेद्,
विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम्।
अतद्व्युदासाभिनिवेशवादः,
पराभ्युपेतार्थविरोधवादः ॥ ५६ ॥

(१८९) व्यावृत्तिहीन अन्वयसे सामान्यकी असिद्धि—

सत्ताद्वैतवादी अपने अभीष्ट तत्त्वको कैसे अन्वयसे सिद्ध करते हैं कि सत्ता वही वही है, परन्तु व्यावृत्तिसे हीन है उसका अन्वय। जैसे कि घड़ा कहा तो जितने घड़े कहे सबमें घड़ापनेका अन्वय है, परन्तु वे सब घड़े परस्पर एक दूसरेसे

अलग हैं। यों दूसरोंसे अलग रहना, इसे कहते हैं व्यावृत्ति। अन्वय होनेपर भी व्यावृत्ति है, किन्तु सत्ताद्वैतवादी अन्वय तो मानते हैं, क्योंकि सभी सत् हैं, यह बात अन्वयसे ही सिद्ध करेंगे। व्यावृत्ति नहीं मानते। व्यावृत्ति न माननेका कारण यह कि उसमें द्वैतकी सिद्धि हो जाती। यह उससे अलग है। तो आखिर दो तो बने, सो सत्ताद्वैतमें या केवल सामान्य मानने वालेके यहाँ व्यावृत्तिहीन अन्वय माना गया है, किंतु व्यावृत्ति-हीन अन्वयसे सामान्यकी सिद्धि नहीं होती। उसका कारण यह है कि जब विपक्षकी व्यावृत्ति नहीं मानी तो सत् असत् सभीका संकर हो बैठेगा। घड़े तो हैं सब, मगर घड़ा स्वयं तब ही है जब कि घटका प्रतिपक्ष उस घटमें नहीं है। कपड़ा वगैरा आदिक रूप घट नहीं हैं, तब ही घटकी सिद्धि है, और वे १०० घड़े भी तब ही हैं जब कि एक घड़ेका प्रतियोगी ९९ घड़े उस एक घड़ेमें नहीं हैं। तो विपक्षको व्यावृत्ति माने बिना सत् असत् या द्रव्यत्व अद्रव्यत्व आदिक साधनोंका संकर हो गया। कुछ भी सब कुछ बन जाय तो उससे सांकर्य हो गया तो कुछ सिद्ध हो नहीं हो सकता।

(१९०) सत्के अन्वयको ही असत्की व्यावृत्ति कहनेकी अशक्यता—

शंकाकार कहता है कि जो सत्की अनुवृत्ति है, समस्त पदार्थोंमें सत्का जो अन्वय है वही असत् आदिककी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

व्यावृत्ति कहलायगी और इस तरह द्वैत भी न बना और अनात्मसे सिद्धि हो जायगी। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि शंकाकारका यह कहना कि सत् रूपकी अनुवृत्ति ही असत् आदिकी व्यावृत्ति है तो यह कथन बिल्कुल असंगत है, क्योंकि अनुवृत्ति तो भावस्वरूप है। जैसे १०० घड़ोंमें घड़ोंकी अनुवृत्ति की है तो वह भावस्वरूप है, विधिरूप है। हैं वे घड़े सब और व्यावृत्ति अभावस्वरूप होता। जैसे अघटव्यावृत्ति घटमें है तो यह अभावरूप ही तो है मायने घड़ेमें अन्य सर्व पदार्थोंका अभाव है। तो एक भावस्वरूप तत्त्व और एक अभावस्वरूप तत्त्व—इन दोनोंमें भेद माना गया है, फिर सत्के अन्वयसे ही असत्की व्यावृत्ति नहीं कह सकते।

(१९१) सत्का अन्वय कहनेमें सामर्थ्यसे असत्की व्यावृत्ति माननेपर स्याद्वाद शासनकी मान्यताकी सिद्धि—

शंकाकार कहता है सत्के अन्वयको असद्व्यावृत्ति न कहो, लेकिन सत्का अन्वय होनेसे असद्व्यावृत्ति सामर्थ्यसे ही सिद्ध हो जाती है। इसके उत्तरमें कहते कि अब कुछ तुम ठिकानेपर आये। चाहे सामर्थ्यसे असद्व्यावृत्ति सिद्ध हुई, मगर असद्वैत है तो सही और उसकी व्यावृत्ति बन गई। फिर यह तो नहीं कह सकते कि व्यावृत्तिहीन अन्वयसे हमारे अभीष्ट से साध्यकी सिद्धि होती है। जब सामर्थ्यसे असत्की व्यावृत्ति शंकाकारने सिद्ध कर लिया तो यह कहना चाहिए कि सत्का

http://www.jainkosh.org

अन्वय है तो असत्की व्यावृत्ति है, घटका अन्वय है तो अघट की व्यावृत्ति है और इस ही प्रकार सत् सामान्य, द्रव्यत्व सामान्य सबकी असिद्धि होती है और फिर सिद्धिके प्रसंगमें उस सामान्यतत्त्वकी भी सामान्यविशेषरूपता व्यवस्थित हो जाती है। कुछ भी तत्त्व मानो, सामान्यविशेषात्मक माने बिना उसकी सिद्धि नहीं है। तो यहाँ तक यह बात बतायी गई कि व्यावृत्तिहीन अन्वयसे सामान्यकी सिद्धि नहीं होती।

(१९२) अन्वयहीन व्यावृत्तिसे विशेषकी असिद्धि—

अब विशेषकी भी बात सुनो—कोई ऐसा चाहे कि अन्वयहीन व्यावृत्तिसे कोई साध्यकी सिद्धि हो जाय, सो यह भी नहीं बनता। अन्वयहीन व्यावृत्ति अन्यापोहवादियोंने माना है। क्षणिकवादी पदार्थोंको विधिरूपसे वाच्य नहीं कहते, किन्तु वे व्यावृत्तिरूपसे वाच्य कहते हैं। जैसे घट कहा तो घटका अर्थ घड़ा नहीं है, किन्तु अघटव्यावृत्ति है। तो उन्होंने व्यावृत्ति तो मानी, पर अन्वय नहीं माना, विधि नहीं मानी, तो ऐसा अन्यापोह अन्वयहीन व्यावृत्तिसे सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि सर्वथा अन्वयरहित व्यावृत्तिके प्रत्यय से जबरदस्ती भले ही अन्यापोहकी कल्पना कर ली जाय, पर वहाँ जब विधि सिद्ध हो हो नहीं रहो, कोई वस्तु सद्भावरूप तत्त्व जब वहाँ कुछ माना ही नहीं जा रहा तो वहाँ अर्थक्रिया नहीं बन सकती। अर्थक्रिया क्या व्यावृत्तिमें बनती है ? वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो वस्तुमें बनती है, जो सद्भावरूप हो, विधिरूप हो, तो अर्थ-क्रिया साध्य सिद्ध न होनेसे फिर प्रवृत्तिका ही लोप हो जायगा। इससे व्यावृत्तिहीन अन्वय कहीं होता ही नहीं है। वस्तु है तो अन्यकी उसमें व्यावृत्ति भी है।

(१६३) वस्तुके अभावरूप होनेपर भी दृश्य और विकल्प्यके एकत्वाध्यवसायसे विधिकी व्यवस्था माननेकी आरेका व उसका समाधान—

अब शंकाकार यह कहता है कि वस्तु सद्भावरूप कुछ नहीं है याने शब्द सद्भावरूप वस्तुके वाचक नहीं हैं, किन्तु दृश्य और विकल्प— इन दोनोंमें एकताका अभिप्राय बन जानेसे प्रवृत्ति बनती है। और यों साध्यकी सिद्धि होती है। दृश्यके मायने हैं जो निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा जाना जाय और विकल्प्यके मायने हैं जो सविकल्प ज्ञानके द्वारा निर्णयमें आये। सो दृश्य और विकल्प्य दोनोंमें जब एकताका अध्यवसाय होता है तो प्रवृत्ति होने लगती है और इस तरह अन्वयहीन व्यावृत्ति सिद्ध हो जायगी। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि दृश्य और विकल्प्यका एकत्व अध्यवसाय संभव ही नहीं, क्योंकि निर्विकल्प ज्ञानसे तो वस्तुका दर्शन माना है शंकाकारने और उसके बाद होने वाले सविकल्प ज्ञानके द्वारा उसमें विकल्प उठते हैं, उनका निर्णय बनता है ऐसा माना है। तो एकत्वका अध्यवसाय इन दोनोंमें तब होता जब दोनों ज्ञानके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

विषयभूत बन रहे हों। परन्तु दर्शन तो विकल्पको ग्रहण नहीं करता तो निर्विकल्प प्रत्यक्षके द्वारा इन दोनोंमें एकत्वका अध्यवसाय नहीं बन सकता, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्षका विषय विकल्प्य नहीं है। अब निर्विकल्प प्रत्यक्षके अनन्तर होने वाले सविकल्प ज्ञानकी बात देखो—वह सविकल्प ज्ञान दृश्यको विषय नहीं करता, क्योंकि सविकल्प ज्ञानसे विकल्पका ही निर्णय है। तो जब दोनोंका ग्रहण नहीं है किसी ज्ञानसे तो एकत्वका अध्यवसाय कैसे हो सकता है?

(१६४) निर्विकल्प व सविकल्प ज्ञानकी तरह ज्ञानान्तरसे भी दृश्य व विकल्पमें एकत्वके अध्यवसायकी असंभवता—

कोई ऐसा सोचे कि निर्विकल्प ज्ञानसे विकल्प्यका उठना नहीं हुआ और सविकल्प ज्ञानसे दृश्य विषयभूत नहीं हुआ तो ये दोनों ही ज्ञान दृश्य और विकल्पके एकत्वका अध्यवसाय न कर सकेंगे, किन्तु कोई और ज्ञान जो दोनोंको विषय करे उस ज्ञानान्तरके द्वारा तो दृश्य और विकल्प्यमें एकत्वका अध्यवसाय हो सकता है—ऐसा सोचना बिल्कुल असंगत है, क्योंकि कोई ज्ञानान्तर है ही नहीं ऐसा कि जो दृश्य और विकल्प्यको ग्रहण कर सके। क्योंकि दृश्य मायने हैं निर्विकल्प ज्ञानके द्वारा, बस स्वलक्षणका प्रतिभास भर हुआ, उसमें निश्चय कुछ नहीं। न कोई निर्णय पड़ा है, उसे निर्विकल्प प्रत्यक्षके अलावा और कोई ज्ञान जान ही नहीं

सकता। और विकल्प कहते हैं वस्तुमें निर्णय बन जाना, सो निर्णयका काल निर्विकल्प प्रत्यक्षके बादका है, तो भिन्न-भिन्न समयोंमें यह विषय है, भिन्न-भिन्न ज्ञानके ये विषय हैं। जैसा कि शंकाकारने स्वयं माना है, उन दोनोंको जानने वाला कोई ज्ञानान्तर नहीं हो सकता जिससे कि दृश्य और विकल्पका एकत्व अध्यवसाय किया जा सके, और फिर एकत्वके अध्यवसायके बलपर अन्वयहीन व्यावृत्तिसे अन्यापोहकी सिद्धि की जा सकती। अन्वयहीन व्यावृत्तिसे अन्यापोहकी या स्वलक्षणरूप साध्यकी सिद्धि नहीं बन सकती।

(१९५) सामान्य पदार्थ व अन्यापोहकी असिद्धिकी तरह शून्यवाद, सत्ताद्वैत व संवेदनाद्वैतकी भी असिद्धि—

अब कोई दूसरा शंकाकार कहता है कि अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही नहीं हैं, ऐसे शून्यवादकी सिद्धि तो सुगमतया हो ही जायगी अथवा सत्ता मात्रकी सिद्धि तो स्वयं हो ही जायगी। सो शंकाकारका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वथा अद्वैतको मान्यतापर साध्य-साधनका भेद नहीं बन सकता। अब सिद्धि किसके द्वारा की जाय और किसको सिद्ध किया जाय? कोई शंकाकार यह कहता कि अद्वैतको संवेदन मात्र मानते हैं केवल प्रतिभासमात्र, फिर उस प्रतिभासमात्र उस अद्वैत तत्त्वको हम किस साधनसे सिद्ध करेंगे और किस साध्यको सिद्ध करेंगे? उस साधनका नाम है असाधन व्यावृत्ति। और इस तरह उस संवेदनाद्वैतकी सिद्धि हो जावेगी। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह जो व्यावृत्ति मानी है जिस किसीसे उसे स्वयं तो मानते नहीं, उसको यों सिद्ध करते हैं शंकाकार कि दूसरोंने माना है, उसकी यहाँ व्यावृत्ति है। तो ऐसा अभिप्राय रखनेपर दूसरोंके द्वारा माने गए अर्थके विरोधवादका प्रसंग आता है अर्थात् बौद्धोंके द्वारा सम्वेदनाद्वैतरूप अर्थ पराभ्युपगत है, सो व्यावृत्ति वाले वचनसे विरुद्ध पड़ गया, क्योंकि जिस असाधनसे या असाध्यसे व्यावृत्ति करना है वह कुछ अर्थ रखता कि नहीं? अगर कुछ अर्थ नहीं रखता तो उनकी व्यावृत्ति क्या? फिर साध्य-साधनका व्यवहार ही क्या और अर्थ मानते हुए दूसरेके माने गए तत्त्वोंसे तो द्वैत सिद्ध हो जाता है, इस प्रकार व्यावृत्तिहीन अन्वय नहीं, अन्वयहीन व्यावृत्ति नहीं। जब ये दोनों बातें युक्तिसंगत हैं तो यह सिद्ध होता है कि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है।

http://www.jainkosh.org

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्ति-
वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धिः।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः,
न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः॥ ५७॥

(१९६) संवेदनाद्वैतवादमें अनात्मसाधन व अनात्मसाध्यकी दुरूह निष्फल कल्पना—

Version 1

यहाँ क्षणिकवादी अपना अभिप्राय करते हैं कि साधन तो अनात्मक होता है, अस्वरूप, उसकी कोई विधि नहीं है, वास्तविक नहीं है, और इसी तरह साध्य भी अनात्मक है, वह भी वास्तविक नहीं है। इसका कारण यह है कि साधन और साध्य कल्पिताकाररूप है। केवल कल्पनाके द्वारा माना गया है। जब साध्य-साधन कल्पिताकार है तो पराभ्युपगत अर्थके प्रसंग नहीं आते। उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि कितना ही तेज विचार कर सामान्यविशेषात्मक पदार्थके विपरीत तत्त्वको कहा जाय, पर उसकी सिद्धि नहीं होती। जो अनात्मक साधन हो, जिसकी विधि सद्भावरूप नहीं है उसके द्वारा और उसी प्रकारके अनात्मसाध्यकी जानकारी बनाना यह तो सर्वथा ही असंगत है, ऐसा होना सम्भव ही नहीं है।

(१९७) संवेदनाद्वैतवादमें अनात्मसाधन व अनात्मसाध्य से शंकाकारकी स्वार्थसिद्धि—

शंकाकार यदि सम्वेदनाद्वैतरूपसे वस्तुमें अनात्मतत्त्वके द्वारा अनात्मसाध्यकी जानकारी न बनाये, इससे अपना पक्ष सिद्ध करना चाहे तो अद्वैतकी ही सिद्धि ठहरती है अर्थात् संवेदनाद्वैतवादी यदि ऐसा कहें कि हमारा संवेदन मात्र तत्त्व साध्य-साधनसे रहित है और वही हमारे तत्त्वकी सिद्धि है तो कल्पनाकाररूप अवस्तुमें साध्य-साधन जब न बना तो

उससे द्वैतकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि जब अवस्तुरूप साधन अद्वैत तत्त्वरूप साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता, और यदि साधनके बिना स्वतः ही संवेदनाद्वैतकी सिद्धि मान ली जाय तो इस तरह ब्रह्माद्वैतकी अथवा अन्य-अन्य सिद्धान्तकी सिद्धि क्यों नहीं मान ली जाती, क्योंकि अब तो सिद्धि साधन बिना बनायी जाने लगी है।

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः,
स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयानभिज्ञैः।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता,
मुने! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः ॥ ५८ ॥

(१९८) वैतण्डिकों द्वारा स्वघातक मिथ्यावादका प्रणयन—

हे वीर जिनेन्द्र! जिन वितंडावादकारियोंने मिथ्या जानकारीका प्रणयन किया है वह आपके स्याद्वादशासनसे अनभिज्ञ हैं और इस भयसे कि कहीं स्वपक्षका घात न हो जाय उन्होंने बढ़-बढ़कर प्रयास किया है, सो उनका यह प्रयास स्वयं ऐसा हो बैठा है कि जैसे कोई पुरुष परघातके आशयसे कुल्हाड़ेको तो चलाये, किन्तु ऐसा चला दे कि अपने ही मस्तक पर मार ले। यहाँ संवेदनाद्वैतवादियोंने अपना यह रवैया बनाया कि परपक्षका दूषण देते जावो, उससे हमारा संवेदनाद्वैत सिद्ध हो जायगा और इस तरह अवस्तुव्यावृत्तिके नामसे

अनेक कल्पनायें कीं, मगर उनसे द्वैततत्त्व ही सिद्ध हुआ है। सो यह प्रयास उन क्षणिकवादियोंका अपने ही सिद्धान्तके घात के लिए है। जैसे कोई पुरुष दूसरेको मारनेके लिए कुल्हाड़ा उठाये और अपने ही मस्तकपर पड़ जाय तो खुदका ही तो मस्तक कटा। तो मालूम होता कि ऐसा कुल्हाड़ा उठाकर चलाने वालेको अपने घातका भय न मालूम था, इसी तरह इन संवेदनाद्वैतवादियोंने या सत्ताद्वैतवादियोंने कुछ युक्तियोंका शासन चलाया तो है, मगर वह शस्त्र खुदके ही पक्षका घात करने वाला बन गया। उन्हें यह पता न था कि इसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं। तो यहाँ परपक्षका निराकरण करने वाले इन अनभिज्ञ पुरुषोंने जिस न्यायका प्रणयन किया है उससे उनके ही पक्षका निराकरण होता है। तो अपने ही स्वरूपका घात हो जायगा, यह भय उनको विदित न था। सो ऐसे दर्शनविमूढ़ एकान्तवादियोंने अपने ही पक्षका घात करनेके लिए अटपट शासन रचा है।

भवत्यभावोपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थाङ्गममेयमन्यत् ॥ ५९ ॥

(१९९) शून्याद्वैतवादियों द्वारा तुच्छ अभावैकान्तके समर्थनका निष्फल प्रयास—

यहाँ शून्याद्वैतवादी कहते हैं कि जो उक्त छंदमें यह आपत्ति दी है कि साधनके बिना साध्यकी स्वयं सिद्धि नहीं होती, इस न्यायके अनुसार संवेदनाद्वैतमें जब कोई साधन ही नहीं है याने कुछ द्वैत ही नहीं है तो संवेदनाद्वैतकी भी सिद्धि नही हो सकती, ऐसा प्रसिद्ध किया था जो यह सही है। संवेदनाद्वैतकी भी सिद्धि न होवे, परन्तु शून्याद्वैतका तो अपने आप पक्ष सिद्ध हो गया याने कुछ भी न रहा। न संवेदनाद्वैत रहा, न पदार्थ रहा। शून्य ही शून्य सर्व कुछ रहा याने सबका अभाव विचारबलसे प्राप्त हो जाता है। शून्यका परिहार तो नहीं किया जा सकता, इस कारण शून्याद्वैत तत्त्व मान लेना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि स्याद्वादशासनमें अभाव भी वस्तु धर्म होता है। प्रत्येक अभाव अन्यके सद्भावरूप हुआ करता है, पर वहाँ प्रतियोगी दृष्टिसे देखें तो प्रत्येक पदार्थमें अन्य पदार्थका अभाव बना हुआ है। सो हे वीर जिनेन्द्र! आपके मतमें कहीं भी असंगतता नहीं आती। जैसे शून्याद्वैतवादियों का ख्याल है कि न तो कोई बाह्य वस्तु रही और न आभ्यंतर ज्ञानरूप वस्तु रही। तो सर्व प्रकारकी वस्तुओंका अभाव होने से शून्यता ही तत्त्व बन जायगा, सो यह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्व धर्मके असम्भव होनेपर किसी भी धर्मकी प्रतीति नहीं बन सकती। जब धर्मकी प्रतीति है तो उसका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कोई धर्मी भी होना चाहिए।

(२००) भावके बिना अभावकी सिद्धिकी असंभवता—

शून्याद्वैतवादी कहते हैं कि शून्य तत्त्व है। तो देखो यह शून्य तब ही तो मालूम पड़ेगा कि जब कोई पदार्थ भी हो। तो कहीं पदार्थ है, कहीं पदार्थ नहीं है तो वहाँ मालूम हो जायगा कि यहाँ शून्य है, सद्भावके साथ अभाव लगा है। किसी न किसीका सद्भाव है तो वहाँ किसीका अभाव कहा जा सकता। तो जब अभाव धर्मकी प्रतीति मान ली है तो उसका कोई धर्मी ये बाह्य आभ्यंतर पदार्थ होना चाहिए, इस कारण सर्व शून्यता भी घटित नहीं होती। सर्व ही नहीं तो सर्व शून्यता कैसे? शंकाकारका कहना है कि सब शून्य है, तो वह सब क्या चीज है कि जिससे शून्य है? वह सर्व भी तो बतलाना चाहिए। और बतलायें तो शून्य कहाँ रहा, और न बतलायें तो सर्वशून्य कहाँ रहा? जैसे तत् ही नहीं तो तद्भाव कैसा, घट ही न कभी होता हो तो घटका अभाव कैसा, जब भाव ही नहीं तो अभाव किसका? यदि कदाचित् शंकाकार यह सोचे कि अभाव तो है और वह स्वरूपसे है तो ऐसा कहनेमें भी उसके वस्तुधर्मपनेकी सिद्धि तो हो गई, क्योंकि स्वरूपका ही नाम वस्तुधर्म है। अनेक धर्मोंमें से किसी धर्मका अभाव हो तो वह अभाव अन्य धर्मरूप कहलायगा। जैसे पुद्गलमें अमूर्तत्वका अभाव है तो मायने मूर्त रूप कह-

लाया वह। जीवमें मूर्तत्वका अभाव है तो इसके मायने हैं कि सब जीव अमूर्तरूप कहलाये। अभावकी ऐसी प्रक्रिया पदार्थों में भी घटित होती। जैसे कहते हैं कि इस कमरेमें घड़ेका अभाव है तो वह अभाव घटरहित समस्त मकानरूप हो गया, कमरेरूप हो गया जहाँ कि घड़ेका अभाव बतला रहे अथवा घटमें पटका अभाव है तो पटका अभाव वह घटरूप पड़ गया। तो अभाव माननेपर भी भाव सिद्ध होता है।

(२०१) स्वरूपसे अभाव माननेपर अभावके अभावको सिद्धि—

यदि शंकाकार यह कह बैठे कि अभाव स्वरूपसे नहीं है तो इसके मायने अभाव हो नहीं है, और अभावका अभाव होनेपर भावकी विधि बढ़ जाती है। तो भले प्रकार विचार करनेपर शून्याद्वैत सिद्धान्तकी व्यवस्था नहीं बनती। यदि शंकाकार यह कहे कि वह अभाव धर्मका अभाव न होकर धर्मीका अभाव है, सीधा पदार्थका अभाव है तो वह भी भाव की तरह भावान्तर बन जायगा। जैसे जब कभी बताये कोई कि घड़ेका अभाव है तो इसके मायने वह भू भाग है। जहाँ घड़ा नहीं पाया गया उस भूभागका दिखना होता है वहाँ, सो वह भावान्तर ही तो है। एक पदार्थका अभाव पदार्थान्तर है। निष्कर्ष यह है कि अभाव यदि धर्मका है तो वह धर्मा-न्तररूप पड़नेसे वस्तुधर्म बन गया, और यदि अभाव धर्मीका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कहा जाय तो वह दूसरे धर्मरूप पड़ गया। अभाव तुच्छरूप नहीं होता, किन्तु अन्य सद्भावरूप हुआ करता है। अभाव तुच्छाभाव नहीं है, यह इस तरह जाना गया कि चूंकि अभाव प्रमाणसे जाना जाता हैं और वस्तुकी व्यवस्था करनेमें अभाव भी एक अंगरूप है। जैसे कहा कि घट है तो घटस्वरूप से है, पररूपसे नहीं है तो जैसे घटकी सिद्धि अस्तित्व अंगसे है इसी प्रकार घटकी सिद्धि नास्तित्व अंगसे भी है। स्वरूपसे अस्तित्व है, पररूपसे नास्तित्व है। शंकाकार यदि यह कहे कि धर्म अथवा धर्मीके अभावको किसी भी प्रमाणसे नहीं जाना जा सकता, है ही नहीं तो जब किसी भी प्रमाणसे जाना ही नहीं जा सकता तो बतलाये शंकाकार कि अभाव तत्त्व है, यह भी कैसे समझा जा सकता ? यदि अभाव किसी प्रमाणसे जाना जाता है तो धर्म धर्मीके स्वभावभेदकी तरह वह भी वस्तुधर्म बन गया, अभाव जाना गया और वह भावान्तररूप जाना गया, तो अभाव है। अगर अभाव संज्ञा ही नहीं है, अभाव तत्त्व ही नहीं है तो उसका प्रतिपादन भी कैसे किया जा सकता ? अभावका प्रतिपादन सब करते हैं और सबके अनुभवमें है यह बात कि इस भावान्तरमें अमुक पदार्थके अभावका व्यपदेश किया जा रहा है। तो अभाव तो वस्तुव्यवस्थाका अंग है, नहीं तो अभावकी कल्पनासे नतीजा ही क्या निकलेगा ? अभाव भावान्तररूप होता है, यह सिद्धान्त है

http://www.jainkosh.org

और तब ही प्रमाणसे जैसे भावकी व्यवस्था की जाती, इसी प्रकार अभावकी भी व्यवस्था की जाती है। जैसे घटमें पट आदिकका अभाव है तो पट आदिकका परिहार बताकर अभाव को घट व्यवस्थाका कारण कल्पित किया गया है, जाना गया है। पट आदिकका अभाव न हो तो घटका सद्भाव हो ही नहीं सकता, अन्यथा वस्तुमें संकर दोष हो जायगा। कोई भी पदार्थ सर्व पदार्थरूप बन गया तो पदार्थ ही क्या रहा, इसलिए पदार्थमें भाव और अभावकी व्यवस्था बनी ही है और उसीके आधारपर पदार्थका अस्तित्व जाना जाता है, अतः अभाव वस्तुव्यवस्थाका अंग है और भावकी तरह अभाव भी वस्तुधर्म है।

(२०३) अस्तित्व नास्तित्व दोनोंकी वस्तुव्यवस्थाङ्गता—कोई भी पदार्थ हो वह अस्ति नास्तिरूप हुआ करता याने अपने स्वरूपसे है और पररूपसे नहीं है, इसमें किसी भी अंगका प्रतिषेध नहीं हो सकता। वस्तु स्वरूपसे है, इसका अगर प्रतिषेध किया गया तो वस्तु ही क्या रही ? वस्तु पररूपसे नहीं है। अगर पररूपसे नास्तित्वका प्रतिषेध किया गया तो वह समस्त पररूप बन गया, सो वस्तु ही क्या रही ? तो वस्तुव्यवस्थामें अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों अंग साधन बनते हैं। इस प्रकार हे वीर जिनेन्द्र ! आपके सिद्धान्तमें भाव

Version 1

की तरह अभाव भी वस्तुका धर्म है। सर्वथा अभाव तत्त्व मायने सर्वशून्य वस्तुव्यवस्थाका अंग नहीं बन सकता। जैसे भावैकान्त तथ्य नहीं है इसी प्रकार अभावैकान्त भी तथ्य नहीं है। सत्ताद्वैतवादी भावैकान्तको मानते हैं तो सर्वरूप हो गया, सद्भूत मात्र रह गया तो अर्थक्रिया क्या हो ? अर्थक्रिया तो वस्तुमें होती है और वस्तु वही होती है जो अपने स्वरूपसे हो, पररूपसे न हो। जहाँ अनेक व्यक्तियाँ हैं वहाँ ही वस्तु समझमें आयगी। तो जैसे भाव वस्तुका अंग है ऐसे ही अभाव भी वस्तुका अंग है। जैसे भावैकान्त कोई तत्त्व नहीं है, इसी प्रकार अभावैकान्त याने सर्वशून्यता यह भी अप्रमेय ही है। किसी भी ज्ञानका विषय नहीं है, अभावैकान्त अर्थात् सर्व-शून्यता। उक्त प्रसंगमें यह बताया गया कि जैसे एक नित्य सर्वगत सामान्य तत्त्व नहीं, सत्ताद्वैत तत्त्व नहीं, इसी प्रकार सामान्यरहित विशेष भी तत्त्व नहीं, और परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेष भी तत्त्व नहीं, इसी तरह वाक्यका अर्थ भी यह कुछ नहीं है, किन्तु सामान्यविशेषात्मक पदार्थ वाक्यका अर्थ है।

विशेषसामान्यविषक्तभेद-
विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम्।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते॥ ६०॥

(२०४) पद और वाक्यकी विधिप्रतिषेधोभयविधायकता—

इस छंदमें यह बतलाया है कि वाक्य किसका प्रतिपादक है ? वाक्य वस्तुतः विशेष और सामान्यको लिए हुए जो भेद है, कोई पदार्थ है उसकी विधि और प्रतिषेध दोनोंका विधायक होता है अर्थात् वाक्यसे सामान्यविशेषात्मक पदार्थ जाना गया और उसके बारेमें ही विधि और प्रतिषेध समझा जाता है। जैसे कोई कहे कि घट लावो तो विधिरूप तो अर्थ यही है कि घट लावो, पर प्रतिषेधरूप अर्थ यह है कि घटके सिवाय बाकी पदार्थ मत लावो। शब्द-शब्दमें अंतर होगा, व्यवच्छेद पड़ा हुआ है। चाहे कोई पुरुष दोहरी भाषा में प्रतिषेधकी बात नहीं कह पा रहा, पर सुनने वालेके और कहने वालेके दोनोंके चित्तमें शब्दका अर्थ विधि और प्रतिषेध परक है। कोई भी शब्द बोला जाय, उसके साथ अन्य अर्थ का निषेध बसा हुआ है। कोई कहे कि मैं मन्दिर जाता हूं तो उसका ध्वनित यह अर्थ भी है कि मैं अन्य कहीं नहीं जाता हूं। तो इस तरह कोई भी वाक्य बोला जाय उसमें विधि और प्रतिषेध दोनोंका अर्थ बसा हुआ होता है। यदि उसमें दोनों अर्थ बसे हुए नहीं हैं, मानो केवल विधिरूप ही अर्थ है और प्रतिषेध अर्थ बसा हुआ नहीं है तब उसका निश्चय बनानेके लिए दूसरे वाक्यका प्रयोग करना चाहिए। जैसे कहा कि घट

Report any errors at vikasnd@gmail.com

लावो और इसमें अर्थ अगर यह नहीं बसा कि अघट मत लावो तो उसका पूरा निश्चय करनेके लिए दूसरे वाक्यका प्रयोग करना चाहिए कि अघट न लावो। फिर तो अघट न लावो, ऐसे वाक्यका प्रयोग किया तो उसके प्रतिपक्षी काम न बने, इस वास्ते तीसरे वाक्यका प्रयोग करो। यों प्रतिपक्ष वाक्योंका प्रयोग करते ही जावो, कभी भी जो विधि बताना है उसे बतानेका अवसर ही नहीं आ सकता है। तो यह समझना चाहिए कि प्रत्येक शब्दमें, पदमें, वाक्यमें विधि और प्रतिषेधक विधायक अर्थ बसा हुआ है, और शब्द इस तरहसे प्रतिपादक है इसके लिए शब्द कैसे मना करें?

(२०५) पद और वाक्यकी विधिप्रतिषेधोभयविधायकता का कारण वस्तुकी विधिप्रतिषेधोभयात्मकता—

तत्त्व ही इस प्रकार है कि जो भी पदार्थ है वह भावात्मक स्वरूप है। किसी भी वस्तुकी सिद्धि करनी हो तो वह अन्य वस्तुके अभावरूप है, यह बात चित्तमें भले प्रकार जमी हुई होती ही है और उस वस्तुका भले प्रकारसे निरीक्षण करनेपर दोनों ही तत्त्व ध्यानमें आते हैं। चौकीपर पुस्तक रखी है, पुस्तकको जानना है तो पुस्तक पुस्तक है, पुस्तक चौकी आदिक नहीं है। यह बात तो इस पुस्तकमें स्वभावतः ही बसी हुई है, अन्य सबसे अछूती है, निराली है और अपने आपके स्वरूपमें उसका अस्तित्व है। स्वयं बातका सुनने वाला

http://www.jainkosh.org

भी अनुभव कर सकता है कि मैं मैं ही हूं, मैं अन्य कोई दूसरा नहीं हूं। यदि यह मैं अन्य सब रूप हो जाऊँ तो मैं ही क्या रहा, विचार ही क्या रहेंगे? अर्थक्रिया ही क्या बनेगी? कैसा दर्शनमोहका आक्रमण है जीवोंके कि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका सीधा स्वरूप है और वह परखमें नहीं आ रहा उनके और कभी सत्ताद्वैत और कभी शून्याद्वैत जैसे अटपट विचार भी चित्तमें आ जाते हैं। भला अपने आपके बारेमें ही सोचकर देख लो—मैं मैं ही हूं, मैं अन्य रूप नहीं हूं, यह बात बनी हुई है कि नहीं? अगर नहीं है तो बोलचाल, प्रतिपादन, समझना, समझाना यह सब व्यर्थ है। कुछ अर्थक्रिया ही न बन सकेगी। तो जिसे अपने आपका भले प्रकार निर्णय है कि मैं मैं हूं, मैं अन्य नहीं हूं और मेरा यह सिद्धान्त है, विचार है तो ऐसे ही सर्व पदार्थोंका निर्णय है, आंखों दिख रहे ये समस्त पदार्थ। कैसे मना किया जा रहा कि ये कुछ नहीं हैं? इनकी सत्ता तो है। हां जो समाधिभावमें आ गया है ऐसे उत्कृष्ट योगीके ध्यानमें केवल वह ज्ञानाकार तत्त्व है। उसकी कोई स्थिति बताये कि इस समाधिनिष्ठ योगीकी क्या परिस्थिति होती है तो उसकी विशेषता बतानेके लिए ये शब्द काम दे सकते हैं, पर उसका अर्थ यह नहीं है कि पदार्थका सत्त्व ही नहीं है। पदार्थ अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, एक आकाश-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

द्रव्य है और असंख्यात कालद्रव्य है। उनकी कमी कैसे की जा सकती है? तो पदार्थ हैं, सब हैं और वे सभी तब हैं जब एकमें अन्य सब पदार्थोंका अभाव हो। इस तरह जैसे प्रमाण के द्वारा वस्तुका भाव जाना जाता है उसी प्रकार प्रमाणके द्वारा वस्तुका अभाव भी जाना जाता है। यों पदार्थ भावा-भावात्मक है। तो हे जिनेन्द्र देव! आपके शासनमें तत्त्वव्यवस्था है, मोक्षमार्ग-व्यवस्था है और जीवके उद्धारका वहीं उपाय है।

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ ६१ ॥

(२०६) वीर जिनेन्द्रके तीर्थमें अशेषधर्मात्मक वस्तुके यथार्थस्वरूपका दर्शन—

हे प्रभो! आपका तीर्थ सर्वान्तवान है अर्थात् आपके शासनमें जिस पदार्थको श्रद्धासे संसारसे तिरना बनता है वह पदार्थ सामान्यविशेषयुक्त है, द्रव्य पर्यायमय है, विधि निषेध वाच्य है, एक अनेकरूप है आदिक समस्त धर्मोंको लिए हुए है और उन धर्मोंका ज्ञान गौण और मुख्यताकी कल्पनासे होता है। धर्मका बोध दृष्टियोंसे है। पदार्थमें ये सब बातें दिखती तो हैं ही। अनेक पदार्थ हैं, उनमें सामान्यभाव देखा

जाता है कि इस जातिकी अपेक्षा ये सब पदार्थ एक समान हैं। जैसे अनन्तानन्त जीवद्रव्य हैं, वे परस्पर एक समान हैं और उनमें उस सामान्यको चैतन्यस्वभावकी दृष्टिसे सिद्ध किया जा रहा है, लेकिन उनकी पर्याय विशेषोंको देखा जाय, उनका अनुभव उनमें स्वयं है, इस दृष्टिसे निरखा जाय तो एक दूसरेसे विशेषता रखता है। समस्त द्रव्योंको सामने रखा, सत्त्वसामान्यकी दृष्टिसे सब द्रव्य समान हैं, क्योंकि सत्ताकी कोई विशेषता नहीं। हैंपनेमें क्या विशेषता है? तो इस तरहसे सभी द्रव्योंमें सामान्य पाया गया और जब उनके असाधारण गुणोंको निरखते हैं तो जो चैतन्यभाव जीवमें है सो जीवमें ही है, पुद्गल आदिकमें नहीं है। मूर्तत्व गुण पुद्गलमें है सो पुद्गलमें ही है, वह अन्य द्रव्योंमें नहीं है।

(२०७) मुख्य गौण प्रतिबोधसे वस्तुधर्मोंका विज्ञान—

अनेक दृष्टियोंसे धर्मकी निरख होती है और वे धर्म हैं अनन्त। उन अनेक धर्मोंमें जब किसी एक धर्मका उस दृष्टिसे समझ हो रहा है तो अन्य धर्म वहाँ गौणरूपसे प्रतीतिमें होते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तुमें जब किसी एक धर्मका अपेक्षासे दर्शन हो रहा है तो अन्य धर्म भी हैं, यह दृष्टाकी प्रतीतिमें है। अन्यथा अर्थात् अन्य धर्मकी गौणरूपसे प्रतीति न माननेपर, अस्तित्व न माननेपर एकान्तवाद आ जाता है। और एक ही धर्मका आग्रह करनेपर वस्तुका लोप हो जाता है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तो वस्तुतः जो ज्ञानी पुरुष हैं वे जब किसी एक धर्मको जान रहे हैं तो अन्य धर्मोंका अस्तित्व उनकी प्रतीतिमें रहता, वहाँ एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है और इस विधिसे ही वस्तुमें व्यवस्था बनती है। अनेकान्तात्मक वस्तुमें गुण मुख्य की कल्पनासे वर्णन करनेपर वहाँ असंगतता या विरोधके लिए कोई अवकाश नहीं है।

(२०८) निरपेक्षवादका मिथ्यापन—

जो वाद धर्मोंमें परस्पर अपेक्षाका वर्णन नहीं करता वह सर्व धर्मोंसे शून्य है, वह समीचीन वाक्य ही नहीं है। एकान्तवादमें यह ही तो अपराध आया कि वह धर्मोंका सर्वथा निरपेक्ष अस्तित्व बतलाता है। अनुभवमें जो उतरे उसका भी लोप करे, यह कैसी अन्ध श्रद्धा है? अपने आपके आत्माके बारेमें सभीको ही अनुभव है कि मैं वही हूं जो पहले था, चिरकालसे अनादिसे था। अब इसे ही कोई भ्रम कहे तो यह एकान्तवादके वचनोंका एक रटन है। जो अनुभवमें आयी हुई बातका भी विरोध किया जाता है। यदि निरपेक्ष एक धर्म माना जाय, नित्यत्व अनित्यत्व एक अनेक किसी भी एक धर्मका ही अस्तित्व माना जाय, अन्य धर्मका प्रतिषेध किया जाय तो किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं बन सकता और न ऐसे एकान्तवादमें पदार्थकी व्यवस्था बन सकती। इस कारण हे प्रभो! आपका जो स्याद्वादशासन है वह सर्व दुःखों

http://www.jainkosh.org

का अन्त करने वाला है। यह ही निरंत है अर्थात् निशेष क्लेशोंका अन्त करने वाला है और किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा वह खंडित नहीं किया जा सकता। इस कारण हे प्रभो! सर्व प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय का साधक ऐसा सर्वोदय तीर्थ आपका ही तीर्थ है। स्याद्वाद शासनको ही सर्वोदय तीर्थ कहा है। वस्तुस्वरूपके सम्यग्ज्ञान के बलपर जो जीव अपने आत्मामें उपयोगकी वृत्तिको करेगा उसका नियमसे विकास होगा और सर्व दुःखोंसे छुटकारा पा लेगा।

(२०९) निरपेक्षवादके मिथ्यापनसे प्रभुशासनकी मुक्ति—

हे प्रभो! आपका शासन समस्त कुनयोंका, निरपेक्ष नयोंका अथवा मिथ्यावादोंका अन्त करने वाला है, यह दुर्जय जो वस्तुमें किसी भी प्रकार एक धर्म दिखा तो उसको ही हठ करके और वस्तुके शेष स्वरूपका प्रतिषेध किया जाय तो वह नय मिथ्यादर्शन है। संसारमें अनेक दुःखोंका कारणभूत होना है। इसलिए मिथ्यावाद, एकान्तवाद कभी भी संसारकी आपत्तियोंको नष्ट नहीं कर सकता। जैसे जब जीवके बारेमें यह समझा कि जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है तो कोई पर्याय दुःखरूप होती है तो कोई पर्याय शान्तिरूप होती है। वहाँ इस जीवको यह उमंग आती है कि मैं यह जीव इस दुःखरूपी पर्यायको मिटाकर शान्तिपर्यायको धारण कर

Version 1

सकता हूं। उस ही अज्ञान-अवस्थामें अब तक चले आये अपनी भूलसे, उस ही अपनी भूलको मिटाकर, सम्यग्ज्ञान पाकर अज्ञान अवस्थासे हट सकता हूं। जो लोग जीवको सर्वथा नित्य ही मानते हैं याने पर्याय वहाँ होती ही नहीं, जीवका परिणमन नहीं होता तब वहाँ अज्ञानसे हटकर ज्ञानमें आनेकी प्रेरणा क्यों मिलेगी और संसार-संकटोंसे छूटनेकी और मुक्ति प्राप्त करनेकी आवश्यकता ही क्या है? और हो सो रहा दुःख ही, तो ऐसा संसार ही उनके चलता रहेगा, इसी प्रकार जो जीवको क्षणस्थायी मानते हैं, क्षणभरको जीव रहा, फिर मिट गया तो एक जीव ज्ञान करे, दूसरा जीव संयम करे, तीसरे जीवको मोक्ष हो। जो करता है वह जब फल नहीं पाता तो वहाँ पर्याय ही कैसे बनेगी? सर्वथा एकान्तवादकी दृष्टिमें जीव को सन्मार्ग नहीं प्राप्त हो सकता। इस कारण हे प्रभो! आपका यह शासन सर्व आपत्तियोंका अन्त करने वाला है।

> कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
> समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
> त्वयि ध्रुवं खण्डित मानशृङ्गो,
> भवत्यभद्रोपि समन्तभद्रः॥ ६२॥

(२१०) आत्महितकी अन्तरमें भावना होनेपर स्याद्वाद शासनका शरण ग्रहणकी अनिवार्यता—

जो पुरुष स्याद्वादशासनसे द्वेष रखते हैं वे कितना

ही द्वेष रखते हों, किन्तु यदि उनमें कुछ भी आत्महितकी भावना हो अर्थात् मात्सर्यका त्याग करके युक्तिसंगत समाधान की भावना हो तो वह गर्वरहित होकर इस स्याद्वादशासनकी शरण ही गहेंगे। एक कथानक है विद्यानन्दि स्वामीका जो कि अबसे करीब ७००-८०० वर्ष पहले हुए थे, वे जैनशासनके तीव्र विरोधी थे, और यहाँ तक विरोध था कि मार्गमें एक पार्श्वनाथ चैत्यालय मिलता था तो उसकी ओर पीठ करके वह चला करते थे। राजदरबारमें पुरोहित थे। रास्तेमें रोज-ही वह जिनमन्दिर मिलता था और रोज ही उसकी ओर पीठ करके चला करते थे। एक दिन उन्होंने अपने मनमें विचार किया कि आखिर जिससे हम घृणा करते हैं, क्या चीज है वहां, कुछ देखना तो चाहिए। वह मन्दिरके अन्दर गए तो क्या देखा कि वहाँ एक मुनिराज बैठे थे, वह देवागम स्तोत्र का पाठ कर रहे थे। विद्यानन्दिजी ने उस पाठको सुना और उसको सुनकर उनकी कुछ आंख खुली। आखिर वे संस्कृतके प्रकाण्ड विद्वान् थे। तो वह मुनिराजसे बोल उठे—महाराज इस पाठका आप अर्थ कर दीजिए। तो मुनिराज बोले कि हम विशेष ज्ञाता नहीं हैं, हम अर्थ नहीं कर सकते। तो इतनी बात सुनकर मुनिराजके प्रति भी उनकी भक्ति जगी। धन्य है इनकी सरलता, कोई बहाना नहीं किया और अपनी अजानकारी सरल शब्दोंमें बता दी। तो विद्यानन्दिजी ने कहा

कि एक बार आप फिर इस पाठको पढ़ दीजिए। तो मुनिराज ने पुनः वह पाठ पढ़ा और विद्यानन्दिजी ने उसे सावधानीसे सुना। अब तो विद्यानन्दिकी सारी समस्यायें हल हो गईं। वस्तु अनेकान्तात्मक है, स्याद्वादसे ही उसकी सिद्धि है, यह निर्णय उनका पक्का बन गया। घर पहुंचे, तत्त्वमनन होने लगा और उसी बीच उनके मनमें एक शंका उठी कि अनुमान का सही लक्षण क्या है ? क्या पंचरूपता अनुमानका लक्षण है या त्रैरूप्य अनुमानका लक्षण है ? नींद आ गई, स्वप्न हुआ कि तुम्हारी इस शंकाका समाधान पार्श्वनाथ मंदिरमें प्रतिमा के पीछे लिखा हुआ मिलेगा। सुबह गए, उसका समाधान पाया दो श्लोकोंमें। जिसका भाव यह था कि जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहां पंचरूपता क्या करेगी ? जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं है वहाँ पंचरूपता क्या करेगी और यह ही बात त्रैरूप्यके सम्बंध में भी है, यह दर्शनका विषय है। अनुमानका स्वरूप और उसके अंगोंका वर्णन बहुत विस्तारसे है। कहनेका मतलब यह कि विद्यानन्दि स्वामीको ऐसी श्रद्धा हुई कि उन्होंने जब राजदरबारमें व्याख्यान किया तो स्याद्वादशासनकी प्रशंसा की वैसा व्याख्यान सुनकर। वहाँ सभी लोग बड़े आश्चर्यमें पड़ गए। वहां विद्यानन्दि स्वामीने कहा कि जिसको शंका हो वह मुझसे शास्त्रार्थ करे। आखिर वह विरक्त हुए। सर्व राजपाट छोड़कर

http://www.jainkosh.org

५०० शिष्योंसहित मुनि हो गए। उन्होंने अष्टसहस्री जैसे महान ग्रंथकी रचना की। तो प्रसंग यह है कि कोई पुरुष स्याद्वाद शासनसे कितना ही द्वेष रखता हो, पर यदि आत्महितकी भावना है, सही समाधानकी जिज्ञासा है तो वह पुरुष नियमसे तत्त्वका समीक्षण करेगा, आपके इष्ट साधनका अवलोकन करेगा, परीक्षण करेगा और नियमसे गर्वहीन हो जायगा। उसके फिर एकान्तवादका आग्रह न रह सकेगा।

(२१२) आत्मविजय बीज आत्महितभावना—

मनुष्यके विजयका कारण है आत्महितकी भावना। जो आत्महिताभिलाषी है वह संसारके दुःखोंसे दूर होनेका इच्छुक है। वह किसी भी मजहबमें उत्पन्न हुआ हो, उसको किसी भी मजहबमें आग्रह नहीं होता, क्योंकि मजहबोंके आग्रहसे संसारमें रुलना अभीष्ट है क्या ? संसारमें रुलना जिसे पसंद न हो वही चाहेगा कि संसरणका विध्वंसक तत्त्वज्ञान प्राप्त हो। तो स्वयं अपने आपमें निरखिये कि यह आत्मा एक स्वभावरूप है, फिर भी पर्यायमें यह अनेकरूप बन रहा है। सो अनेक रूपताका यह विश्वास रखेगा तो यह अनेक रूप बनता ही रहेगा याने संसारकी अनेक पर्यायें इसको मिलती ही रहेंगी और यदि अपने अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्य-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वभावका आदर करेगा, उस स्वभावको ही शरण मानेगा तो उसको संसरणसे मुक्ति प्राप्त हो सकेगी। सब कुछ निर्णय अपने आपके अन्दर है। अपने पर्यायमें अनेक रूपसे आस्था न रहे कि मैं इस रूप हूं, पर्याय तो होती ही रहेंगी, क्योंकि वह तो वस्तुका स्वभाव है। पर्याय बिना कोई वस्तु नहीं रह सकती। मगर पर्यायमें जो आत्मतत्त्वकी श्रद्धा करता है उसको संसारमें खोटी पर्यायें चलती हैं और जो अपने एक अंतस्तत्त्वको आस्था करता है, उसरूप अपनेको मानता है उसकी शुद्धपर्याय चला करती है। शुद्धपर्यायमें शान्ति है, अशुद्ध पर्यायसे संसार परिभ्रमण है। तो जो आत्महित चाहेगा वह आत्महितका मार्ग जरूर पा लेगा, क्योंकि यह जिज्ञासा ही एक पवित्र जिज्ञासा है। मेरा क्या हित है और किस विधिसे मेरा कल्याण बन सकता है? ऐसा कोई चाहे तो उसे सन्मार्ग अवश्य ही मिलेगा।

(२१३) आत्महिताभिलाषी सन्मार्गद्रष्टाकी समन्तभद्रता— सन्मार्ग यही है कि अपनी नाना रूपताका ध्यान छोड़कर सहज एकस्वरूप इस चैतन्यभावकी उपासना करें। मैं ज्ञानमात्र हूं, चैतन्यमात्र हूं, ऐसी भावना प्रयोगके साथ जो करे अर्थात् ज्ञानमें ऐसा ही अपनेको लेगा उसके नियमसे अशुद्ध पर्याय दूर होती है। तो आत्महितका अभिलाषी पुरुष

किसी कारणसे किसी सम्प्रदायमें जन्म होनेसे अथवा मिथ्यावादियोंका संग मिलनेसे वह स्याद्वादशासनसे मनमाना द्वेष कर रहा हो, इतनेपर भी यदि आत्महितकी अभिलाषा है, सत्य तत्त्वके समझनेका भाव है तो वह अभद्र पुरुष भी सर्व ओरसे भद्र बन जाता है। मिथ्यात्वसे ग्रस्त पुरुष भी सम्यग्दृष्टि बन जाता है, अपने आपके शासन तीर्थका उपासक बन जाता है और उस स्याद्वादशासनमें बताये गए मार्गके अनुसार वह अपनी प्रवृत्ति करने लगता है। निरन्तर उसे इस ज्ञानदर्शन सामान्यात्मक अन्य पदार्थकी प्रतीति रहती है। जो अपने आपका ज्ञान करेगा, अपने स्वरूपमें रहेगा वह समंतभद्र बन जायगा। समन्त मायने चारों ओरसे, भद्र मायने मंगलरूप। यह जीव अनेकान्तशासनका शरण पाकर कल्याणमय हो जायगा।

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ,
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता।
किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञ मनसां
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदितः ॥ ६३ ॥

(२१४) राग द्वेषके बिना प्रभुका स्तवन— हे वीर जिनेन्द्र! जो यह स्तोत्र मैंने किया है आपका, सो रागवश नहीं किया अर्थात् आपसे कोई स्नेह हो, राग हो, रिश्ता हो या कोई सांसारिक नाता हो और उस रागसे आपकी प्रशंसा की हो ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ही नहीं सकता । उसका कारण यह है कि इधर हम तो परीक्षा-प्रधानी हैं और उधर आप संसारजालको नष्ट करके संसारसे अलग हो गए, फिर रागका क्या सवाल ? कौन आप्त है कौन नहीं है– इस परीक्षाको लेकर जब हम स्तवन किया करते हैं, जब रागका मेरा ही ओरसे सवाल नहीं और फिर आप तो संसारजालका नाश कर जीवनमुक्त हुए हैं और इस समय मुक्त हैं तो आपको भी मेरे प्रति कोई आकर्षण नहीं, न आप मेरी ओर अनुराग रखने वाले हैं, आप वीतराग हैं, इस कारणसे राग ही नहीं, स्तवन करनेका कोई कारण नहीं है और इसी कारण इस स्तोत्रकी उपपत्तिका बीज राग नहीं है, किन्तु दोष गुणका विचार करते हुए आपके गुणोंकी रुचिके कारण यह भक्तिस्तवन हुआ है। तो जैसे आपका स्तवन किया जानेका कारण राग नहीं है, इसी प्रकार आपका स्तवन किया जानेका कारण द्वेष भी नहीं है। दूसरे एकान्तवादियोंसे द्वेष हो, इस-लिए अनेकान्तशासनके प्रणेता भगवानका स्तवन किया जा रहा हो, यह बात नहीं है, क्योंकि कोई किसीसे द्वेष रख करके कार्य करे तो उसे खलता (दुष्टता) कहते हैं। खोटा अभिप्राय है, सो यह अभिप्राय मुझमें है ही नहीं, इस कारण दूसरेके प्रति द्वेष भाव रखकर यह स्तोत्र किया हो, यह संभव नहीं। स्तोत्रकी उपपत्तिका कारण द्वेष नहीं हो सकता। लोकमें जैसे पक्ष देखा जाता कि जो अपनेको न रुचे, उससे जो विरोधी हो

http://www.jainkosh.org

तो विरोधी विरोधीके प्रति उसका आकर्षण जगता और जो नहीं रुच रहा उसपर द्वेष जगता। तो ऐसा रागद्वेष संसारी मायावियोंमें संभव है, पर जहाँ केवल मोक्षमार्गकी अभिलाषा कोई रख रहा हो और जहाँ केवल आत्महितका मार्ग ही ढूंढ़ने की धुन है और उस धुनमें ढूंढ़ भी पाया है वीतराग सर्वज्ञदेव को तो उस बीच स्तवनका कारण न राग हो सकता है और न द्वेष हो सकता है।

(२१५) आत्महितेच्छुवोंको आत्महितका उपाय बताना इस स्तोत्रका प्रयोजन—

अब यह एक प्रश्न हो उठता है कि बिना प्रयोजनके कोई भी पुरुष कुछ भी कार्य नहीं करता, तो स्तवनके किए जानेका कारण क्या है ? इसके समाधानमें आचार्यदेव कहते हैं कि इसका उद्देश्य यही है कि जो लोग न्याय और अन्यायको पहिचानना चाहते हैं और प्रकृत विषयमें कौन देव हैं, कौन नहीं है या कौनसे वचन निर्दोष हैं और कौनसे वचन सदोष हैं ? इस प्रकार जाननेकी जिनकी इच्छा है उनके लिए यह स्तोत्र हे प्रभो ! आपकी गुणकथाके साथ कहा गया है। इस ग्रंथमें दो बातें कही गई हैं—एक तो प्रभुके गुणोंकी कथा और दूसरा वस्तुस्वरूपका विवेचन। वस्तुस्वरूपका जो विवेचन है वह परोपकारके लिए है। जो मनुष्य न्याय अन्याय समझना चाहता है अर्थात् कैसे ज्ञान करें, वह हमपर अन्याय

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है और कैसे बोधका विचार करें तो वह दूसरोंपर न्याय है। और किस तरह बोध करें जो अन्याय बने खुदपर, और कैसे बोध विचार करें जो अन्याय बने दूसरोंपर, यह बात इस स्तवनमें प्रकट हुई है।

(२१६) सम्यक् व मिथ्याश्रद्धानमें भगवान आत्मापर न्याय व अन्यायका एक उदाहरण—

जो लोग आत्माको नहीं मानते, शून्यवाद सिद्धांत के अध्ययनसे अथवा भूतोंसे उत्पन्न हुए अध्ययनसे जो लोग आत्माको नहीं मानते वे स्वयंपर अन्याय कर रहे हैं। आखिर ऐसा समझने वाला भी तो आत्मा ही है। उसे कैसे मना किया जा सके और स्वयं अपने आपको मना करे तो अपने हितके उपायकी कैसे जिज्ञासा हो सकती? तो यह स्वयंपर अन्याय है, और ऐसे मिथ्यावादका प्रचार किया जाय, रचना की जाय तो उसका जो उपयोग करेगा वह भी विभ्रममें रहेगा। यह उनपर अन्याय है। यह बतानेका प्रयोजन इस स्तवनमें है। और स्याद्वादशासनके अनुसार आत्माका अन्वेषण किया जाय कि यह मैं आत्मा अनादि अनन्त हूं, इस कारण नित्य हूं, यही मात्र एक मैं स्वयं हूं, इस कारण एक हूं, किंतु प्रतिक्षण परिणमता रहता हूं, इस कारण नित्य हूं, और प्रति समयके जो परिणमन हैं वे सब अनेक हैं। तो जो परिणमन आज चल रहा है वह दुःखरूप है, वह परिणमन बदला जा

सकता है और शान्तिरूप परिणमन पाया जा सकता है, और उसका उपाय है अपने आपमें अंतःप्रकाशमान इस नित्य एक आत्मस्वभावको उपासना करना अर्थात् अपने आपको उस नित्य एक आत्मरूपमें ही समझना। स्याद्वादशासनके अनुसार बुद्धि बनानेसे खुदको संसार-संकटोंसे छूटनेका अवसर मिला और यह बोध जो पायगा उसका भी आत्मकल्याण होगा। तो यह दूसरेपर न्याय हुआ, खुदको संसार-संकटोंसे छुटकारा मिलेगा, यह अपने आपपर न्याय हुआ। तो जो लोग न्याय और अन्यायको पहिचानना चाहते हैं उनके लिए हित की खोजका यह उपाय बताया गया।

(२१७) प्रभुगुणस्तवनमें आत्महितकी प्रेरणा—

यह स्तवन प्रभुकी निर्दोषताको बताने वाला है। जो निर्दोष होगा उसके ही ऐसे वचन निकलेंगे जो हितरूप हैं, अहितसे बचाने वाले हैं। तो आपके गुणोंकी कथा तो इसमें है, मगर उस गुणकथाके साथ ही जीवोंको हितका उपाय बताया गया है, और विशेषतया जो यह समझा गया कि प्रभु जगजालको तोड़कर मुक्त हुए हैं। तो ऐसा समझकर खुदको भी एक प्रेरणा मिलती है कि हम भी भवजालमें तो जरूर हैं, किन्तु जो मार्ग प्रभुने अपनाया उसपर चलकर हम भी इस संसारजालको छोड़ सकते हैं। तो जो आपको इष्ट था संसार-बंधनको तोड़ना वह हमें इष्ट है और ऐसा ही सब संज्ञी जीवों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

को इष्ट है कि यह संसारबंधन टूट जाय। तो हितका मार्ग क्या है? इसका उपाय भगवानकी स्तुतिके काजसे जाहिर होता है अर्थात् गुणकथा तो साक्षात् है, पर संसारबंधन टूटे, यह प्रयोजन भी इसमें पड़ा है। तो जीवोंको हितका मार्ग मिले, यह प्रयोजन इस स्तवनकी रचनाका कारण है। तब इस स्तोत्रमें इतनी बातें व्यक्त हो रही हैं– रचयिताकी श्रद्धा, रचयितामें प्रभु वीर जिनेन्द्रके प्रति उत्कृष्ट श्रद्धा है, यह वस्तुके स्वरूपके निर्णय द्वारा समझा गया। ऐसा निर्णय चूंकि वीर जिनेन्द्रने बताया और उसके निर्णयका पूर्ण समर्थन रचयिताने किया तो इससे श्रद्धा जानी गई। दूसरी बात गुणज्ञताकी अभिव्यक्ति है। समन्तभद्राचार्य गुणज्ञ थे। परमात्मामें यह अनन्त वैभव है, अनन्त गुण हैं, उसके वह जानकार थे तब ही उनका ध्यान एकाग्रतासे प्रभुकी ओर हो गया। इन दो कारणोंके अतिरिक्त तीसरा कारण इस स्तोत्रकी उपपत्तिका है लोकहित। आचार्य समंतभद्रको लोकहितकी भी भावदृष्टि थी कि जो धर्मकी खोजमें भटक रहे हैं उनको सुगमतया सन्मार्ग मिले, वस्तुका सत्यस्वरूप ज्ञानमें आये, ऐसी उनको लोकहित की भावना थी। तो इन तीन कारणोंसे इस स्तोत्रकी रचना हुई है, ऐसा समन्तभद्राचार्य स्तवन करके कह रहे हैं।

इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैः प्रणिहितैः,
स्तुतः शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन ! मया।

http://www.jainkosh.org

महावीरो वीरो दुरितपरसेनाऽभिविजये
विधेया मे भक्ति पथि भवत एवाप्रतिनिधौ ॥६४॥

(२१७) दुरित परसेनाभिविजयसे वीर जिनेन्द्रकी वीरताका आख्यान—

हे वीर जिनेन्द्र ! आप दुरित परकी सेनाको पूर्णरूपसे पराजित कर चुके हैं अतएव वीर हैं। दुरित मायने मोहादिक कर्मशत्रु, दुरित मायने पाप और वे भी उत्कृष्ट पाप, ऊँचे पाप, और वे अन्य हैं, ऐसे मोहादिक कर्मशत्रुओंकी सेनाको पूर्णरूपसे आपने पराजित किया है। मोह दो प्रकारका है—(१) द्रव्यमोह और (२) भावमोह, और ये दोनों ही दो प्रकारके हैं—(१) दर्शनमोह और (२) चारित्रमोह। आपने अपने समाधिबलसे अन्तस्तत्त्वके आश्रयके बलसे सर्व प्रकारके मोहको दूर किया है। जैसे-जैसे द्रव्यमोह दूर हुआ वैसे ही वैसे आपने अपना भावमोह दूर किया। द्रव्यमोहके दूर होनेमें आत्मपरिणाम कारण है और भावमोहके दूर होनेमें द्रव्यमोह का क्षय कारण है। ऐसा इसमें निमित्तनैमित्तिक योग है। मोहनीय कर्मके २८ प्रकार हैं, जिनमें मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति तथा अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—इन ७ प्रकृतियोंका सर्वप्रथम क्षय हुआ था और इस क्षयके प्रसादसे क्षायिकसम्यक्त्व प्रकट हुआ। सम्यक्त्व प्रकट होनेपर अन्तःप्रकाश सही जगता है और ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप अंत-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्तत्त्व हूं—यह प्रतीति निरन्तर रहती है और इस प्रतीतिबल से प्रभुकी शेष बची हुई २१ प्रकृतियोंका भी विनाश हुआ। जिसमें २० प्रकृतियोंका नाश ६वें गुणस्थानमें हुआ और सूक्ष्म लोभका नाश १०वें गुणस्थानके अंतमें हुआ। इस प्रकार २८ प्रकारके मोहसे रहित होकर आप क्षीणमोह हुए। मोहका पराजित करना आत्माका अद्भुत वीरपना है। तो हे वीर जिनेन्द्र ! आप वीर्यातिशयको प्राप्त हैं। ऐसी शक्तिविशेषसे आप युक्त हैं कि जहाँ मोहकी सेना भी न टिक सके।

(२१८) वीर जिनेन्द्रके गुणोंकी उपासनासे परमपदप्राप्ति की भावना—

हे वीर जिनेन्द्र ! आपने मोक्षपदको प्राप्त किया, इस कारण आप महावीर हैं और देवेन्द्र मुनीन्द्रोंके द्वारा जो कि स्तुतिकारोंमें बड़े प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा एकाग्र मनसे आप स्तवन करने योग्य हैं। प्रभु जिनेन्द्रका स्तवन जो कि गणधर देव कर सकते हैं और जो इन्द्र कर सकते हैं वह एक अद्भुत स्तवन होता है। तो ऐसे बड़े इन्द्रों द्वारा और गणधर आदिक मुनीन्द्रों द्वारा आपका स्तवन किया गया है और आपके शासन की महिमा जानकर मुझ परीक्षाप्रधानीके द्वारा भी आप यथा-शक्ति स्तवन किए गए हैं। इस कारण हे प्रभो, आप अपने ही मार्गमें प्रतिनिधिरहित हैं अर्थात् स्वयं आप स्वतंत्र समर्थ हैं। आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग

का स्वयं अनुष्ठान किया है, जिसकी जोड़का कोई मार्ग होना योग्य नहीं है, सो ऐसे हे वीर जिनेन्द्र ! मेरी भक्तिको विशेष रूपसे चरितार्थ कीजिए अर्थात् मोक्षके मार्गकी निरन्तरायता बने और उस मार्गपर जो चलें उनको अभीष्ट फलकी सिद्धि हो। जो पुरुष इस मोक्षमार्गमें चल रहे हैं, परमपदको प्राप्त कर चुके हैं उनके इस अभीष्ट फलकी सिद्धिको देखकर उसका भक्तिभाव हार्दिक अनुराग उन श्रेष्ठ महात्मा और परमात्माके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े, जिससे कि मैं भी उसी मार्गकी साधना करता हुआ कर्मशत्रुकी सेनाको जीतनेमें समर्थ होऊं। जिस जिस उपायसे प्रभु चले, आत्मामें जैसे-जैसे परिणाम विशुद्ध हुए और स्वतः ही जैसी-जैसी दशायें होती गईं ये सब घटनायें होकर मैं भी निश्रेयस पथमें बढ़ूं और अत्यन्त कल्याणरूप मोक्षपदको प्राप्त करके कृतकृत्य होऊँ।

(२१९) कृतकृत्य अवस्थामें परम संतोष—

कृतकृत्यतामें संतोष होता है। जब तक चित्तमें कोई काम करना शेष होना है तब तक वहाँ असंतोष है। जहाँ ऐसी स्थिति बनती है कि अब करनेको कुछ भी नहीं रहा अर्थात् जो श्रेष्ठ करने योग्य है वह सब किया जा चुका तो ऐसी कृतकृत्यताकी स्थितिमें आत्माको सन्तोष होता है। कृतकृत्यताकी स्थिति मोक्षमें है। जहाँ केवल आत्मा ही आत्मा किसी भी परका सम्बंध नहीं, विशुद्ध निर्मल ज्ञान, जो ज्ञान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

समस्त तीनों लोक अलोकको जानता हुआ भी अपने आपमें ही मग्न है और इसी कारण जहाँ अनन्त आनन्द प्रकट हुआ है, ऐसा जो निश्रेयस पद है वह ही कृतकृत्यताका साधन है। तो समाधिभावसे पहले जो विचारोंका परिवर्तन चलता रहता है, पदार्थोंकी ओर आकर्षण रहा करता है वहाँ सब कृतकृत्यता ही है। सो हे प्रभो ! मैं कर्मशत्रुओंको जीतनेमें समर्थ होऊँ। इन निश्रेयसोंसे मोक्षपदकी प्राप्ति करूँ और अपना सफल मनोरथ करूँ। क्योंकि वास्तविक विवेक सहित भक्ति ही मार्गपर चलनेमें सहायक होती है। वस्तुका पूर्ण निर्णय किए बिना केवल लोकरूढ़िको देखकर उत्पन्न होने वाली भक्ति और ऐसा ही जहाँ स्तवन हुआ करता है वहाँ मार्ग नहीं मिल पाता। और जहाँ विवेक है सत्य और असत्यका, नित्य और अनित्यका बोध है और सत्य आत्माकी ओर ही झुकाव है, फिर जो स्तवन होता है उससे मार्गपर चलना सुगम होता है, और जो उस मार्गपर चलता है उसकी स्तुति करना सार्थक होता है तो स्तवन पूर्ण किया जानेपर योजनार्थ केवल यह ही कामना रखनी है कि मेरेको इस स्तवनके फलमें एक उपलब्धि हुई। अनादिकालसे परम्परासे बसे चले आये इन कर्मजालोंसे मैं छुटकारा पाऊँ, विषम परिणमनोंसे पृथक् होकर मैं शान्ति, समाधिभावरूप परिणमन पाऊँ और सर्व कर्मोंसे रहित होकर मोक्षपद पाऊँ। मोक्षसे आगे फिर इस जीवकी कोई मंजिल

नहीं। यही एक उत्कृष्ट पद है। मोक्षदशामें यह जीव अनन्तकाल तक अनन्त आनन्दरूप बर्तता है, ज्ञानमात्र जानता है और अन्तरंगमें सहज आनन्द जगता है। एक ही धारासे ऐसा ही परिणमन सदाकालके लिए मोक्षमें चलता है और कभी भी विषम परिणमन नहीं होता। सो हे वीर जिनेन्द्र ! आपके स्तवनके फलमें मैं ऐसा ही मोक्षपद चाहता हूं।

॥ युक्त्यनुशासन प्रवचन समाप्त ॥

मुद्रक—मैनेजर, शास्त्रमाला प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 'सहजानन्द' महाराज
द्वारा रचित

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे।
तेरी भक्तीमें क्षण जायें सारे ॥टेक॥

ज्ञानसे ज्ञानमें ज्ञान ही हो, कल्पनाओंका इकदम विलय हो।
भ्रांतिका नाश हो, शांतिका वास हो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥१॥

सर्व गतियोंमें रह गतिसे न्यारे, सर्व भावोंमें रह उनसे न्यारे।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥२॥

सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥३॥

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्ययके भेदोंसे पारे।
नित्य अंतः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥४॥

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयोंमें नित श्रेय तू है।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे। तेरी० ॥५॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com